

Chapter तीस

प्रचेताओं के कार्यकलाप

विदुर उवाच

ये त्वयाभिहिता ब्रह्मन्सुताः प्राचीनबर्हिषः ।

ते रुद्रगीतेन हरिं सिद्धिमापुः प्रतोष्य काम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—विदुर ने कहा; ये—जो; त्वया—तुम्हारे द्वारा; अभिहिताः—कहे गये थे; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; सुताः—सभी पुत्र; प्राचीनबर्हिषः—राजा प्राचीनबर्हि के; ते—वे सब; रुद्र-गीतेन—भगवान् शिव द्वारा रचे गये गीत से; हरिम्—भगवान् को; सिद्धिम्—सफलता; आपुः—प्राप्त किया; प्रतोष्य—प्रसन्न करके; काम्—क्या ।

विदुर ने मैत्रेय से जानना चाहा: हे ब्राह्मण, आपने पहले मुझसे प्राचीनबर्हि के पुत्रों के विषय में बतलाया था कि उन्होंने शिव द्वारा रचे हुए गीत के जप से भगवान् को प्रसन्न किया। तो उन्हें इस प्रकार क्या प्राप्त हुआ?

तात्पर्य : प्रारम्भ में मैत्रेय ऋषि ने प्राचीनबर्हि के पुत्रों के कार्यकलापों का वर्णन किया था। ये पुत्र समुद्र जैसे एक बड़े सरोवर के निकट गये और वहाँ पर भाग्यवश शिवजी से भेंट हो गई तो उन्होंने शिव द्वारा रचित गीतों के जप से भगवान् को प्रसन्न करना सीखा। तब नारद मुनि ने उनके पिता से पुरञ्जन की रूपक कथा कह कर कर्मों के प्रति उनकी आसक्ति को व्यर्थ सिद्ध कर दिया। अब विदुर पुनः प्राचीनबर्हि के पुत्रों के विषय में जानना चाहते थे—विशेष रूप से वे यह जानने के इच्छुक थे कि श्रीभगवान् को प्रसन्न कर लेने के बाद प्राचीनबर्हि के पुत्रों ने क्या प्राप्त किया। यहाँ पर *सिद्धिम् आपुः* अर्थात् सिद्धि प्राप्त की शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। भगवान् कृष्ण *भगवद्गीता* (७.३) में कहते हैं—*मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये*—हजारों व्यक्तियों में कोई एक यह जानने के लिए उत्सुक रहता है कि आध्यात्मिक विषयों में किस प्रकार सिद्धि प्राप्त की जाये। *भगवद्गीता* (८.१५) में भी परम सिद्धि का वर्णन हुआ है—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाधतम् । नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥

“मुझको प्राप्त हुए भक्तियोगी महात्माजनों का इस दुखपूर्ण अनित्य संसार में जन्म फिर कभी नहीं होता, क्योंकि वे परम संसिद्धि को प्राप्त हो चुके होते हैं।” और वह परम सिद्धि क्या है? इसी श्लोक में उसका भी वर्णन है। परम सिद्धि है भगवान् के धाम को लौटना जिससे मनुष्य को फिर से इस संसार में नहीं आना पड़ता और एक शरीर से दूसरे में देहान्तर नहीं करना पड़ता। शिव की कृपा से प्रचेतागणों ने वास्तव में सिद्धि प्राप्त कर ली और भौतिक सुविधाओं का अधिकाधिक भोग करके वे भगवान् के धाम को लौट गये। मैत्रेय अब विदुर से इसी का वर्णन करेंगे।

किं बार्हस्पत्येह परत्र वाथ

कैवल्यनाथप्रियपार्श्ववर्तिनः ।

आसाद्य देवं गिरिशं यदृच्छया

प्रापुः परं नूनमथ प्रचेतसः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; बार्हस्पत्य—हे बृहस्पति के शिष्य; इह—यहाँ; परत्र—विभिन्न लोकों में; वा—अथवा; अथ—इस तरह; कैवल्य-नाथ—मोक्ष के प्रदाता को; प्रिय—प्यारा; पार्श्व-वर्तिनः—से सम्बद्ध होने से; आसाद्य—मिलकर; देवम्—देवता; गिरि-शम्—कैलाश पर्वत के स्वामी को; यदृच्छया—भाग्य से; प्रापुः—प्राप्त किया; परम्—परमेश्वर; नूनम्—निश्चय ही; अथ—अतएव; प्रचेतसः—बर्हिषत् के पुत्र।

हे बार्हस्पत्य, राजा बर्हिषत् के पुत्रों ने, जिन्हें प्रचेता कहते हैं, उन्होंने भगवान् शिवजी से भेंट करने के बाद क्या प्राप्त किया, जो मोक्षदाता भगवान् को अत्यन्त प्रिय हैं? वे वैकुण्ठलोक तो गये ही, किन्तु इसके अतिरिक्त उन्होंने इस जीवन में, अथवा अन्य जीवनों में इस संसार में क्या प्राप्त किया?

तात्पर्य : इस लोक में अथवा अन्य लोकों में इसी जीवन में अथवा अगले जीवन में सभी तरह के भौतिक सुख प्राप्त होते हैं। जीव इस भौतिक ब्रह्माण्ड में अनेक योनियों एवं अनेक लोकों में घूमता रहता है। जीवन-काल में प्राप्त होने वाले सुख तथा दुख इह कहलाते हैं और अगले जीवन में प्राप्त होने वाले सुख-दुख परत्र कहलाते हैं।

वस्तुतः श्रीमहादेव (शिव) इस भौतिक जगत के महान् देवता हैं। सामान्यतः जनसाधारण को दिये जाने वाले उनके आशीर्वादों का अर्थ होता है भौतिक सुख। इस जगत की अधिष्ठात्री देवी दुर्गा भगवान् महादेव अथवा गिरिश के अधीन रहती हैं। अतः भगवान् महादेव किसी को भी किसी तरह का भौतिक सुख प्रदान कर सकते हैं। सामान्यतः लोग भौतिक सुख प्राप्त करने की इच्छा से भगवान् गिरिश के भक्त बनना पसन्द करते हैं, किन्तु प्रचेताओं की तो भाग्यवश महादेव जी से भेंट हुई थी। भगवान् महादेव ने उन्हें भगवान् की पूजा करने का उपदेश दिया और स्वयं भी भगवान् की स्तुति की। जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है, शिवजी द्वारा की गई विष्णु की स्तुति (रुद्रगीत) के उच्चारण-मात्र से प्रचेतागण वैकुण्ठ को चले गये। कभी-कभी भक्तगण भौतिक सुख भी भोगना चाहते हैं, फलतः भक्त के वैकुण्ठलोक में प्रवेश के पूर्व भगवान् उसे भौतिक सुख भोगने का अवसर प्रदान करते हैं। कभी-कभी भक्त को जनलोक, महर्लोक, तपोलोक, सिद्धलोक इत्यादि जैसे लोक में भेज दिया

जाता है। किन्तु जो शुद्ध भक्त है उसे किसी प्रकार के भौतिक सुख की इच्छा नहीं रहती। फलतः शुद्ध भक्त को सीधे वैकुण्ठलोक भेजा जाता है, जिसे यहाँ पर परम् कहा गया है। इस श्लोक में विदुर बृहस्पति के शिष्य मैत्रेय से प्रचेताओं की विभिन्न सिद्धियों के विषय में पूछते हैं।

मैत्रेय उवाच

प्रचेतसोऽन्तरुदधौ पितुरादेशकारिणः ।
जपयज्ञेन तपसा पुरञ्जनमतोषयन् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; प्रचेतसः—प्रचेताओं ने; अन्तः—भीतर; उदधौ—समुद्र में; पितुः—अपने पिता के; आदेश-कारिणः—आज्ञाकारी; जप-यज्ञेन—मंत्रों के जप से; तपसा—कठिन तपस्या से; पुरम्-जनम्—भगवान् को; अतोषयन्—प्रसन्न किया।

मैत्रेय ऋषि ने कहा : राजा प्राचीनबर्हि के पुत्र प्रचेताओं ने अपने पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए समुद्र जल के भीतर कठिन तपस्या की। भगवान् शिव द्वारा प्रदत्त मंत्र का बारम्बार उच्चारण करके वे भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने में समर्थ हुए।

तात्पर्य : कोई चाहे तो भगवान् से प्रत्यक्ष रूप से प्रार्थना कर सकता है, किन्तु यदि वह शिवजी तथा ब्रह्माजी जैसे महान् भक्तों द्वारा की गई प्रार्थनाओं को दोहराता है या महापुरुषों के पदचिह्नों का अनुसरण करता है, तो वह सरलतापूर्वक भगवान् को प्रसन्न कर सकता है। उदाहरणार्थ, हम कभी-कभी ब्रह्म-संहिता के (५.२९) निम्नलिखित मंत्र का जप करते हैं—

चिन्तामणिप्रकरसद्यसु कल्पवृक्ष-

लक्षावृतेषु सुरभीरभिपालयन्तम् ।

लक्ष्मीसहस्रशतसम्भ्रमसेव्यमानं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

“मैं आदि भगवान् प्रथम प्रजापति गोविन्द की पूजा करता हूँ जो चिन्तामणि से बने तथा लाखों कल्पवृक्षों से घिरे आवासों में गायों का पालन करते हैं तथा समस्त इच्छाओं को प्रदान करने वाले हैं। लाखों लक्ष्मियाँ अथवा गोपियाँ बड़े ही आदर तथा प्रेम से सदैव उनकी सेवा करती रहती हैं।” चूँकि यह प्रार्थना ब्रह्मा द्वारा की गई थी, अतः हम इसे गाकर उनका अनुसरण करते हैं। भगवान् को प्रसन्न करने का यही सुगम उपाय है। शुद्ध भक्त कभी परमेश्वर के पास सीधे पहुँचने का प्रयास नहीं करता।

भगवान् के पास जाने की सबसे महत्त्वपूर्ण विधि है भक्तों की शिष्य-परम्परा द्वारा जाना। इस तरह शिव द्वारा की गई भगवान् की प्रार्थना प्रचेताओं ने दुहराई और वे परमेश्वर को प्रसन्न करने में सफल हुए।

यहाँ पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को पुरञ्जन कहा गया है। मध्वाचार्य के अनुसार जीव को पुरञ्जन कहा जाता है, क्योंकि वह इस भौतिक जगत का वासी हो गया है और प्रकृति के त्रिगुणों के कारण उसे इसी जगत में रहना पड़ता है। इस भौतिक जगत (पुर) की सृष्टि भगवान् द्वारा की जाती है और वे इसमें प्रविष्ट भी होते हैं। *अण्डान्तरस्थपरमाणुचयान्तरस्थम्*। भगवान् जीव के हृदय के भीतर तथा परमाणु के भीतर प्रवेश करते हैं, इसीलिए भगवान् तथा जीव दोनों ही पुरञ्जन कहलाते हैं। एक पुरञ्जन जीव परम पुरञ्जन के अधीन है, अतः अधीनस्थ पुरञ्जन का कर्तव्य है कि वह परम पुरञ्जन को तुष्ट रखे। यही भक्ति है। रुद्र या शिव ही वैष्णव सम्प्रदाय के, जिसे “रुद्र सम्प्रदाय” कहते हैं, मूल आचार्य हैं। *रुद्रगीतेन* शब्द सूचित करता है, कि रुद्र की शिष्य-परम्परा में प्रचेताओं को आध्यात्मिक सफलता प्राप्त हुई।

दशवर्षसहस्रान्ते पुरुषस्तु सनातनः ।

तेषामाविरभूत्कृच्छ्रं शान्तेन शमयन्नुचा ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

दश-वर्ष—दस साल; सहस्र-अन्ते—एक हजार के अन्त में; पुरुषः—परम पुरुष; तु—तब; सनातनः—शाश्वत; तेषाम्—प्रचेताओं का; आविरभूत्—प्रकट हुआ; कृच्छ्रम्—कठिन तपस्या; शान्तेन—तुष्ट करते हुए; शमयन्—शान्त करते हुए; रुचा—अपने सौन्दर्य से।

प्रचेताओं द्वारा दस हजार वर्षों तक कठिन तपस्या किये जाने के बाद भगवान् तपस्या का फल देने के लिए उनके समक्ष अत्यन्त मनोहर रूप में प्रकट हुए। इससे प्रचेताओं को अपना श्रम सार्थक प्रतीत हुआ।

तात्पर्य : दस हजार वर्षों तक तपस्या करते रहना बहुत सुखद प्रयास नहीं लगता, तो भी भक्तगण भगवान् की कृपा प्राप्त करने के लिए ऐसी तपस्याएँ करते हैं। उस काल में जब जीवन अत्यन्त दीर्घ होता था, लोग हजारों वर्षों तक कठिन तपस्या कर सकते थे। कहा जाता है कि रामायण के रचयिता वाल्मीकि ने साठ हजार वर्षों तक ध्यान रूपी तपस्या की। भगवान् ने प्रचेताओं की तपस्या की सराहना की और अन्त में वे अत्यन्त मनोहर रूप में उनके समक्ष प्रकट हुए। इस प्रकार वे सभी अत्यन्त प्रसन्न हुए और की गई अपनी तपस्या के कष्ट को भूल गए। भौतिक जगत में यदि कोई कठिन श्रम के बाद

सफल होता है, तो वह अत्यधिक प्रसन्न होता है। इसी प्रकार भक्त भी भगवान् के संसर्ग में आते ही सारे श्रम तथा सारी तपस्या को भूल जाता है। यद्यपि ध्रुव महाराज केवल पाँच वर्ष के बालक थे, किन्तु उन्होंने सूखी पत्तियाँ खाकर, केवल जल पीकर तथा निराहार रहकर कठिन तपस्या की। इस तरह वे छःमास के पश्चात् भगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन कर सके थे। जब उन्होंने भगवान् का दर्शन किया, तो वे अपनी सारी तपस्या भूल गये और कहा—*स्वामिन् कृतार्थोऽस्मि*—“हे भगवान्! मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ।”

असल में, ये तपस्याएँ सत्ययुग, द्वापर तथा त्रेतायुग में की गई थीं, इस कलियुग में नहीं। इस कलियुग में हरे कृष्ण महामंत्र का जप करने से वही फल प्राप्त किया जा सकता है। चूँकि इस युग के लोग पतित हैं अतः भगवान् इतने दयालु हैं कि उनको वे सबसे सरल विधि-प्रदान करते हैं। हरे कृष्ण महामंत्र के जप मात्र से कोई भी वही परिणाम प्राप्त कर सकता है। जैसाकि भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने इंगित किया है, हम इतने अभागे हैं कि हम हरे कृष्ण महामंत्र—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण, हरे हरे /हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—का जप करने की ओर भी आकृष्ट नहीं होते।

सुपर्णस्कन्धमारूढो मेरुशृङ्गमिवाम्बुदः ।

पीतवासा मणिग्रीवः कुर्वन्वितिमिरा दिशः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

सुपर्ण—भगवान् विष्णु के वाहन गरुड़ के; स्कन्धम्—कन्धों पर; आरूढः—आसीन; मेरु—मेरु नामक पर्वत की; शृङ्गम्—चोटी पर; इव—सदृश; अम्बुदः—बादल; पीत-वासाः—पीला वस्त्र पहने; मणि-ग्रीवः—कौस्तुभ मणि से सुशोभित गर्दन; कुर्वन्—करते हुए; वितिमिराः—अंधकार से मुक्त; दिशः—सारी दिशाएँ।

गरुड़ के कन्धे पर आसीन भगवान् मेरु पर्वत की चोटी पर छाये बादल के समान प्रतीत हो रहे थे। भगवान् का दिव्य शरीर आकर्षक पीताम्बर से ढका था और उनकी गर्दन कौस्तुभ मणि से सुशोभित थी। भगवान् के शारीरिक तेज से ब्रह्माण्ड का सारा अंधकार दूर हो रहा था।

तात्पर्य : जैसाकि *चैतन्य-चरितामृत* (मध्य २२.३१) में कहा गया है—

कृष्ण—सूर्यसम; माया हय अन्धकार ।

याहाँ कृष्ण, ताहाँ नाहि मायार अधिकार ॥

भगवान् प्रकाशमान सूर्य के समान हैं, अतः जहाँ भी वे उपस्थित रहते हैं वहाँ अंधकार या अज्ञान नहीं रह सकता। वास्तव में यह अंधकारमय ब्रह्माण्ड सूर्य द्वारा प्रकाशित है, किन्तु सूर्य तथा चन्द्रमा परमेश्वर के शारीरिक तेज को ही परावर्तित करते हैं। *भगवद्गीता* (७.८) में भगवान् कहते हैं—

प्रभास्मि शशिसूर्ययोः—मैं सूर्य तथा चन्द्रमा दोनों की प्रकाशमान शक्ति हूँ। निष्कर्ष यह है कि भगवान् का शारीरिक तेज ही सारे जीवन का उद्गम है। इसकी पुष्टि ब्रह्म-संहिता में भी हुई है— यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि। भगवान् के शारीरिक तेज से प्रकाशित होने पर सारी वस्तुएँ अंधकार से मुक्त हो जाती हैं।

काशिष्णुना कनकवर्णविभूषणेन
 भ्राजत्कपोलवदनो विलसत्किरीटः ।
 अष्टायुधैरनुचरैर्मुनिभिः सुरेन्द्रैः
 रासेवितो गरुडकिन्नरगीतकीर्तिः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

काशिष्णुना—चमकीले; कनक—सोना; वर्ण—रंग के; विभूषणेन—आभूषणों से; भ्राजत्—चमकते हुए; कपोल—मस्तक; वदनः—मुख; विलसत्—झिलमिलाता हुआ; किरीटः—मुकुट; अष्ट—आठ; आयुधैः—आयुधों से; अनुचरैः—सेवा करने वालों से; मुनिभिः—मुनियों से; सुर-इन्द्रैः—देवताओं से; आसेवितः—सेवित; गरुड—गरुड़ द्वारा; किन्नर—किन्नर लोक के वासी; गीत—गाया हुआ; कीर्तिः—कीर्ति, महिमा।

भगवान् का मुख अत्यन्त सुन्दर था और उनका सिर चमकीले मुकुट तथा सुनहरे आभूषणों से सुशोभित था। यह मुकुट झिलमिला रहा था और सिर पर अत्यन्त सुन्दर ढंग से लगा था। भगवान् के आठ भुजाएँ थीं और प्रत्येक भुजा में एक विशेष आयुध था। वे देवताओं, ऋषियों तथा अन्य पार्षदों से घिरे हुए थे। ये सब उनकी सेवा कर रहे थे। भगवान् का वाहन गरुड़ अपने पंखों को फड़फड़ा कर वैदिक स्तोत्रों से भगवान् की महिमा का इस प्रकार गान कर रहा था मानो वह किन्नर लोक का वासी हो।

तात्पर्य : सामान्य रूप से विष्णु को चार भुजाओं में चार वस्तुएँ लिये प्रदर्शित किया जाता है (ये हैं शंख, चक्र, गदा तथा कमल पुष्प)। किन्तु यहाँ पर उन्हें आठ भुजाओं में आठ प्रकार के आयुध धारण किये हुए दिखाया गया है। वीरराघव आचार्य के अनुसार शंख तथा कमल पुष्प भी आयुध हैं। चूँकि भगवान् परम नियन्ता हैं, अतः वे जो भी अपने हाथ में धारण करते हैं, उसे आयुध माना जा सकता है। चार हाथ चार प्रकार के आयुध धारण किये रहते हैं और अन्य चार हाथों में वे धनुष, बाण, त्रिशूल तथा सर्प धारण करते हैं। श्री वीरराघव आचार्य शंख, चक्र, गदा, पद्म, शार्ङ्ग, शर इत्यादि को आठ आयुध बताते हैं।

किसी राजा के साथ सदैव उसके मंत्री, सचिव तथा सेनापति होते हैं, भगवान् विष्णु के साथ भी

उनके अनुचर—देवता, ऋषि, साधु इत्यादि—रहते हैं। वे कभी अकेले नहीं रहते। अतः भगवान् के निराकार होने का प्रश्न ही नहीं उठता। वे स्वयं तथा उनके सभी पार्षद भी व्यक्ति हैं। इस श्लोक में दिये हुए वर्णन से लगता है कि गरुड़ किन्नरलोक का वासी था। किन्नरलोक के वासियों के स्वरूप भी गरुड़ जैसे होते हैं। उनके शरीर के अंग मनुष्यों जैसे होते हैं, किन्तु उनके पंख होते हैं। *गीतकीर्तिः* शब्द सूचित करता है कि किन्नरलोक के वासी भगवान् के यशोगान में अत्यन्त निपुण होते हैं। *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है—*जगदण्डकोटिकोटिष्वशेषवसुधादिविभूतिभिन्नम्*। प्रत्येक ब्रह्माण्ड में अनेक प्रकार के लोक होते हैं और प्रत्येक लोक की अपनी विशेषताएँ होती हैं। इस श्लोक के आधार पर हमें विदित होता है कि किन्नरलोक के वासी अपने पंखों से उड़ सकते हैं। एक अन्य लोक भी है, जो सिद्धलोक कहलाता है, जिसके वासी पंखों के बिना भी उड़ सकते हैं। इस प्रकार प्रत्येक लोक में पृथक्-पृथक् सुविधाएँ प्राप्त हैं। यही भगवान् की विविध सृष्टि का सौंदर्य है।

पीनायताष्टभुजमण्डलमध्यलक्ष्म्या

स्पर्धच्छ्रिया परिवृतो वनमालयाद्यः ।

बर्हिष्मतः पुरुष आह सुतान्प्रपन्नान्

पर्जन्यनादरुतया सघृणावलोकः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

पीन—बलिष्ठ; आयत—लम्बी; अष्ट—आठ; भुज—भुजाएँ; मण्डल—घेरा के; मध्य—बीच में; लक्ष्म्या—लक्ष्मी से; स्पर्धत्—स्पर्धा करते हुए; श्रिया—जिसकी सुन्दरता; परिवृतः—पड़ी हुई; वन-मालया—फूलों की माला से; आद्यः—आदि भगवान्; बर्हिष्मतः—राजा प्राचीनबर्हि के; पुरुषः—भगवान्; आह—सम्बोधित किया; सुतान्—पुत्रों को; प्रपन्नान्—शरणागत; पर्जन्य—बादल के समान; नाद—जिसकी ध्वनि; रुतया—वाणी से; स-घृण—दयापूर्वक; अवलोकः—अपनी दृष्टि, चितवन।

भगवान् के गले के चारों ओर घुटनों तक पहुँचने वाली फूलों की माला लटक रही थी।

उनकी आठ बलिष्ठ तथा लम्बी भुजाएँ उस माला से विभूषित थीं, जो लक्ष्मी जी की सुन्दरता को चुनौती दे रही थीं। दयापूर्ण चितवन तथा मेघ-गर्जना के समान वाणी से भगवान् ने राजा प्राचीनबर्हिष्त् के पुत्रों को सम्बोधित किया जो उनकी शरण में आ चुके थे।

तात्पर्य : इस श्लोक में *आद्यः* शब्द महत्त्वपूर्ण है। भगवान् परमात्मा तथा ब्रह्म के भी मूलस्रोत हैं। जैसी कि *भगवद्गीता* (१४.२७) में पुष्टि हुई है—*ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्*—परम सत्य, निराकार ब्रह्म से प्रारम्भ न होकर, आदि भगवान् श्रीकृष्ण से प्रारम्भ होता है। जब अर्जुन को कृष्ण की महानता का अनुभव हो गया तो उसने उन्हें इस प्रकार सम्बोधित किया (*भगवद्गीता* १०.१२)—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।

पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥

“आप परब्रह्म, परम धाम, पावन परम तत्त्व और सनातन दिव्य पुरुष हैं। आप ही चिन्मय दिव्य सौन्दर्य आदि देव, अजन्मा और सर्वव्यापी हैं।”

ब्रह्म-संहिता का यह भी कथन है—अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्—परमेश्वर अनादि है, किन्तु वह समस्त कारणों का कारण है। वेदान्त सूत्र का कहना है—जन्माद्यस्य यतः—परम सत्य वह है, जिससे प्रत्येक वस्तु उद्भूत है। परम सत्य को आदिपुरुष कहा जाता है। अतः परम सत्य निराकार नहीं, अपितु पुरुष है।

श्रीभगवानुवाच

वरं वृणीध्वं भद्रं वो यूयं मे नृपनन्दनाः ।

सौहार्देनापृथग्धर्मास्तुष्टोऽहं सौहृदेन वः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; वरम्—वर, आशीर्वाद; वृणीध्वम्—माँगो; भद्रम्—कल्याण; वः—तुम सबका; यूयम्—तुम सब; मे—मुझसे; नृप-नन्दनाः—हे राजपुत्रो; सौहार्देन—मित्रता से; अपृथक्—अभिन्न; धर्माः—कार्य; तुष्टः—प्रसन्न; अहम्—मैं; सौहृदेन—मित्रता से; वः—तुम सबका।

भगवान् ने कहा : हे राजपुत्रो, मैं तुम लोगों के परस्पर मित्रतापूर्ण सम्बन्धों से अत्यधिक प्रसन्न हूँ। तुम सभी एक ही कार्य—भक्ति—में लगे हो। मैं तुम लोगों की मित्रता से इतना अधिक प्रसन्न हूँ कि मैं तुम्हारा कल्याण चाहता हूँ। अब तुम जो वर चाहो माँग सकते हो।

तात्पर्य : चूँकि राजा प्राचीनबर्हिषत् के पुत्र मिलकर कृष्णभक्ति कर रहे थे, अतः भगवान् उनसे अत्यधिक प्रसन्न थे। राजा प्राचीनबर्हिषत् के सभी पुत्र पृथक्-पृथक् जीव थे, किन्तु भगवान् की भक्ति करने में वे सभी एक थे। परमेश्वर को प्रसन्न करने अथवा भक्ति करने के लिए जीवों में एकता का प्रयास वास्तविक एकता है। भौतिक जगत में ऐसी एकता सम्भव नहीं है। भले ही आधिकारिक रूप से लोग एकमत हो लें, किन्तु उनके अलग-अलग स्वार्थ होते हैं। उदाहरणार्थ, संयुक्त राष्ट्र-संघ में सभी राष्ट्रों की अपनी-अपनी विशिष्ट राष्ट्रीय आकांक्षाएँ होती हैं, अतः उन्हें एकमत नहीं किया जा सकता। इस संसार में जीवों के बीच विविधता इतनी प्रबल है कि कृष्णभावनामृत-संघ में भी कभी-कभी भिन्न मतों एवं विचारों तथा भौतिक स्वार्थों के प्रति झुकाव के कारण सदस्यों में विरोध पाया जाता है।

वस्तुतः कृष्णभक्ति में द्वैत नहीं रह सकता। वहाँ एकमात्र उद्देश्य है यथाशक्ति श्रीकृष्ण की सेवा करना। यदि सेवा को लेकर कोई मतभेद होता है, तो उसे आध्यात्मिक समझना चाहिए। जो भगवद्भक्ति में लगे हुए हैं, वे किसी भी परिस्थिति में विलग नहीं हो सकते। इससे भगवान् अत्यन्त प्रसन्न होते हैं और अपने भक्तों को कोई भी वर प्रदान करने के लिए तैयार रहते हैं जैसाकि इस श्लोक में इंगित किया गया है। हम देख सकते हैं कि भगवान् राजा प्राचीनबर्हिषत् के सभी पुत्रों को वर देने के लिए तुरन्त तैयार हो जाते हैं।

योऽनुस्मरति सन्ध्यायां युष्माननुदिनं नरः ।
तस्य भ्रातृष्वात्मसाम्यं तथा भूतेषु सौहृदम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; अनुस्मरति—सदैव स्मरण करता है; सन्ध्यायाम्—शाम के समय; युष्मान्—तुमको; अनुदिनम्—प्रतिदिन; नरः—मनुष्य; तस्य भ्रातृषु—अपने भाइयों के प्रति; आत्म-साम्यम्—व्यक्तिगत समानता; तथा—और; भूतेषु—समस्त जीवों के प्रति; सौहृदम्—मित्रता।

भगवान् ने आगे कहा : जो प्रतिदिन संध्या समय तुम्हारा स्मरण करेंगे वे अपने भाइयों के प्रति तथा अन्य समस्त जीवों के प्रति मैत्रीभाव रखेंगे।

ये तु मां रुद्रगीतेन सायं प्रातः समाहिताः ।
स्तुवन्त्यहं कामवरादास्ये प्रज्ञां च शोभनाम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

ये—जो लोग; तु—लेकिन; माम्—मुझको; रुद्र-गीतेन—रुद्र गीत द्वारा; सायम्—संध्या समय; प्रातः—प्रातःकाल; समाहिताः—सावधान रहकर; स्तुवन्ति—प्रार्थना करते हैं; अहम्—मैं; काम-वरान्—इच्छाओं को पूर्ण करने के लिए समस्त वर, अभीष्ट वरदान; दास्ये—प्रदान करूँगा; प्रज्ञाम्—बुद्धि; च—भी; शोभनाम्—दिव्य।

जो लोग शिवजी द्वारा प्रणीत स्तुति से प्रातः तथा सायंकाल मेरी प्रार्थना करेंगे, उन्हें मैं वर प्रदान करूँगा। इस तरह वे अपनी इच्छाओं को पूरा करने के साथ-साथ सद्बुद्धि भी प्राप्त कर सकेंगे।

तात्पर्य : सद्बुद्धि का अर्थ है भगवान् के धाम को वापस जाना। इसकी पुष्टि भगवद्गीता (१०.१०) में हुई है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

“जो निरन्तर मेरी भक्ति करते तथा प्रेमपूर्वक मेरी पूजा करते हैं उन्हें मैं बुद्धि प्रदान करता हूँ जिससे वे मेरे पास आ सकें।”

जो अपनी विविध इच्छाओं की पूर्ति के उद्देश्य से भगवान् की प्रार्थना करता है, उसे यह जान लेना चाहिए कि इच्छा की चरमपूर्ति भगवान् के धाम को वापस जाना है। इस श्लोक में इंगित किया गया कि जो राजा प्राचीनबर्हिषत् के पुत्र प्रचेताओं के कार्यकलापों का स्मरण करता है उसका कल्याण और उद्धार होगा। अतः राजा के उन पुत्रों के लिए क्या कहना जो भगवान् से प्रत्यक्ष जुड़े हुए हैं? परम्परा-पद्धति की यही रीति है। यदि हम आचार्यों का अनुसरण करते हैं, तो हमें अपने पूर्ववर्तियों जैसा लाभ प्राप्त होता है। यदि कोई अर्जुन के निर्णयों का अनुसरण करता है, तो समझो कि वह भगवान् से सीधे *भगवद्गीता* सुन रहा है। प्रत्यक्ष भगवान् से *भगवद्गीता* सुनने तथा अर्जुन जैसे महापुरुष का, जिसने *भगवद्गीता* पहले भगवान् के मुख से सुनी थी, अनुसरण करने में कोई अन्तर नहीं होता। कभी-कभी मूर्ख लोग तर्क करते हैं कि इस समय कृष्ण उपस्थित नहीं हैं, इसलिए उनसे प्रत्यक्ष उपदेश प्राप्त नहीं किया जा सकता। ऐसे मूर्ख यह नहीं जानते कि *भगवद्गीता* के प्रत्यक्ष सुनने तथा इसके पढ़ने में तब तक कोई अन्तर नहीं है जब तक इसे उसी रूप में स्वीकार किया जाता है, जिस रूप में इसे भगवान् ने कहा था। किन्तु यदि कोई अपनी अधूरी विवेचना से *भगवद्गीता* समझना चाहता है, तो वह *भगवद्गीता* के रहस्यों को नहीं समझ सकता, भले ही लौकिक दृष्टि में वह कितना ही बड़ा विद्वान् क्यों न हो।

यद्द्वयं पितुरादेशमग्रहीष्ट मुदान्विताः ।

अथो व उशती कीर्तिर्लोकाननु भविष्यति ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

यत्—चूँकि; ययम्—तुम लोगों ने; पितुः—पिता की; आदेशम्—आज्ञा; अग्रहीष्ट—शिरोधार्य की है; मुदा-अन्विताः—अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक; अथो—अतः; वः—तुम्हारी; उशती—आकर्षण, कमनीय; कीर्तिः—महिमा; लोकान् अनु—सारे ब्रह्माण्ड भर में; भविष्यति—सम्भव हो सकेगी, फैल जाएगी।

चूँकि तुम लोगों ने अपने अन्तःकरण से प्रसन्नतापूर्वक अपने पिता की आज्ञा अत्यन्त श्रद्धापूर्वक शिरोधार्य की है और उसका पालन किया है, अतः तुम्हारे आकर्षक गुण संसार-भर में सराहे जाएँगे।

तात्पर्य : चूँकि जीव भगवान् का भिन्नांश है, अतः उसे थोड़ी सी स्वतंत्रता प्राप्त है। कभी-कभी

अल्पबुद्धि व्यक्ति पूछते हैं कि यद्यपि सभी प्राणी भगवान् के अधीन में हैं, किन्तु मनुष्य को कष्ट में क्यों रखा जाता है। अति अल्प स्वतंत्रता प्राप्त होने से जीव चाहे परमेश्वर की आज्ञा का पालन करे अथवा उल्लंघन कर दे। यदि वह आज्ञापालन करता है, तो वह सुखी रहता है और यदि नहीं करता तो दुखी होता है। अतः जीव स्वयं सुख या दुख को जन्म देता है। परमेश्वर किसी पर इन्हें लादता नहीं। परमेश्वर ने प्रचेताओं की प्रशंसा की क्योंकि उन्होंने अपने पिता की आज्ञा श्रद्धापूर्वक शिरोधार्य की थी। फलतः भगवान् ने राजा प्राचीनबर्हिषत् के पुत्रों को आशीर्वाद दिया।

भविता विश्रुतः पुत्रोऽनवमो ब्रह्मणो गुणैः ।
य एतामात्मवीर्येण त्रिलोकीं पूरयिष्यति ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

भविता—होगा; विश्रुतः—अत्यन्त प्रसिद्ध; पुत्रः—पुत्र; अनवमः—न्यून नहीं; ब्रह्मणः—ब्रह्मा से; गुणैः—गुणों में; यः—जो; एताम्—यह सब; आत्म-वीर्येण—अपनी संतति से; त्रि-लोकीम्—तीनों संसार को; पूरयिष्यति—पूर्ण कर देगा।

तुम सब को एक उत्तम पुत्र प्राप्त होगा जो भगवान् ब्रह्माजी से किसी भी प्रकार न्यून नहीं होगा। फलस्वरूप वह सारे ब्रह्माण्ड में अत्यन्त प्रसिद्ध होगा और उससे उत्पन्न पुत्र तथा पौत्र तीनों लोकों को भर देंगे।

तात्पर्य : जैसाकि अगले श्लोक में बताया गया है, प्रचेतागण कण्डु ऋषि की पुत्री से विवाह करेंगे। यहाँ यह मत दिया गया है कि पुत्र का नाम विश्रुत होगा और वह अपने सद्-चरित्र से अपने माता-पिता दोनों की ख्याति को बढ़ाएगा। वस्तुतः वह ब्रह्माजी से बढ़कर होगा। महान् राजनीतिज्ञ चाणक्य ने कहा है कि यदि किसी उद्यान या जंगल में कोई उत्तम वृक्ष हो तो उसके फूल अपनी सुगन्ध से जंगल को भर देंगे। इसी प्रकार परिवार का एक सुपुत्र सारे संसार में परिवार को प्रसिद्ध बनाता है। कृष्ण ने यदुवंश में जन्म लिया, फलतः यदुवंश संसार-भर में प्रसिद्ध हो गया।

कण्डोः प्रम्लोचया लब्धा कन्या कमललोचना ।
तां चापविद्धां जगृहुर्भूरुहा नृपनन्दनाः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

कण्डोः—कण्डु मुनि की; प्रम्लोचया—प्रम्लोचा नाम की अप्सरा से; लब्धा—प्राप्त किया; कन्या—पुत्री; कमल-लोचना—कमल जैसे नेत्रों वाली; ताम्—उसको; च—भी; अपविद्धाम्—छोड़ी हुई; जगृहुः—स्वीकार किया; भूरुहाः—वृक्ष; नृप-नन्दनाः—हे राजा प्राचीनबर्हिषत् के पुत्रो!।

हे राजा प्राचीनबर्हिषत् के पुत्रो, प्रम्लोचा नामक अप्सरा ने कण्डु की कमलनयनी कन्या को

जंगली वृक्षों की रखवाली में छोड़ दिया और फिर वह स्वर्गलोक को चली गई। यह कन्या कण्डु ऋषि तथा प्रम्लोचा नामक अप्सरा के संयोग से उत्पन्न हुई थी।

तात्पर्य : जब भी कोई ऋषि भौतिक शक्ति के लिए कठोर तपस्या करता है, तो स्वर्ग का राजा इन्द्र ईर्ष्यालु हो उठता है। सभी देवताओं पर संसार का कार्य चलाने के लिए उत्तरदायित्व है और वे पुण्यकर्मों के कारण अत्यन्त योग्य होते हैं। यद्यपि वे सामान्य जीव हैं, किन्तु वे ब्रह्मा, इन्द्र, चन्द्र तथा वरुण जैसे उत्तरदायित्वपूर्ण पदों को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। जैसाकि इस संसार की रीति है, स्वर्ग का राजा इन्द्र किसी भी ऋषि के द्वारा कठोर तपस्या करने पर ईर्ष्या करने लगता है। यह सारा संसार ऐसी ही ईर्ष्या से पूर्ण है, जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपने पड़ोसी से भयभीत रहता है। प्रत्येक व्यापारी अपने संगियों से भयभीत रहता है, क्योंकि यह संसार समस्त प्रकार के ईर्ष्यालु व्यक्तियों का कर्मक्षेत्र है, जो यहाँ पर भगवान् के ऐश्वर्य से स्पर्धा करने के लिए आये हुए हैं। इस प्रकार इन्द्र कण्डु द्वारा सम्पन्न कठोर तपस्या से अत्यन्त भयभीत था और उसने उसके व्रत तथा तपस्या को खण्डित करने के लिए प्रम्लोचा को भेजा। ऐसी ही घटना विश्वामित्र के साथ भी घटित हुई थी। शास्त्रों की अन्य घटनाओं से ऐसा प्रतीत होता है कि इन्द्र सदा से ईर्ष्यालु रहा है। जब राजा पृथु इन्द्र से बढ़कर विभिन्न यज्ञ सम्पन्न कर रहा था, तो इन्द्र अत्यन्त ईर्ष्यालु हो उठा और उसने राजा पृथु के यज्ञ में गड़बड़ी मचाई। इसकी व्याख्या पिछले अध्यायों में की जा चुकी है। इन्द्र को कण्डु ऋषि का व्रत भंग करने में सफलता प्राप्त हुई, क्योंकि ऋषि प्रम्लोचा नामक अप्सरा की सुन्दरता से मोहित हो गया और उससे एक कन्या को जन्म दिया। यहाँ पर इस कन्या को कमलनयनी तथा अत्यन्त सुन्दरी कहा गया है। अपने उद्देश्य में सफल होकर प्रम्लोचा नवजात शिशु को वृक्षों की निगरानी में छोड़कर स्वर्ग लौट गई। सौभाग्यवश वृक्षों ने शिशु का पालन-पोषण करने की सहमति दे दी।

क्षुत्क्षामाया मुखे राजा सोमः पीयूषवर्षिणीम् ।
देशिनीं रोदमानाया निदधे स दयान्वितः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

क्षुत्—भूख से; क्षामायाः—व्याकुल होने पर; मुखे—मुँह में; राजा—राजा; सोमः—चन्द्रमा; पीयूष—अमृत; वर्षिणीम्—डालते हुए; देशिनीम्—तर्जनी अंगुली; रोदमानायाः—रोने पर; निदधे—डाला; सः—वह; दया-अन्वितः—दयालु होते हुए।

तत्पश्चात् वृक्षों के संरक्षण में रखा गया वह शिशु भूख से रोने लगा। उस समय वन के राजा

अर्थात् चन्द्रलोक के राजा ने दयावश अपनी अंगुली (तर्जनी) शिशु के मुख में रखी जिससे अमृत निकलता था। इस प्रकार उस शिशु का पालनपोषण चन्द्र राजा की कृपा से हुआ।

तात्पर्य : यद्यपि अप्सरा ने शिशु को वृक्षों के संरक्षण में छोड़ा था, किन्तु वे ठीक से उसका पालन न कर सके, अतः उन्होंने उसे चन्द्रमा राजा चन्द्र के सुपुर्द कर दिया। तो चन्द्रराज ने शिशु की भूख को शमित करने के लिए उसके मुख के भीतर अपनी अँगुली डाल दी।

प्रजाविसर्ग आदिष्टाः पित्रा मामनुवर्तता ।

तत्र कन्यां वरारोहां तामुद्धृत मा चिरम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

प्रजा-विसर्ग—सन्तान उत्पन्न करने के लिए; आदिष्टाः—आदेश पाकर; पित्रा—पिता द्वारा; माम्—मेरा आदेश; अनुवर्तता—पालन करती हुई; तत्र—वहाँ; कन्याम्—कन्या को; वर-आरोहाम्—अत्यन्त योग्य तथा अत्यन्त सुन्दरी; ताम्—उसको; उद्धृत—ब्याह लिया; मा—बिना; चिरम्—समय गँवाये।

चूँकि तुम सभी मेरी आज्ञा का पालन करने वाले हो, अतः मैं तुम्हें उस कन्या के साथ तुरन्त विवाह करने के लिए कहता हूँ क्योंकि वह अत्यन्त योग्य है, सुन्दरी है और उत्तम गुणों वाली है। अपने पिता की आज्ञा के अनुसार तुम उससे संतति उत्पन्न करो।

तात्पर्य : सभी प्रचेता न केवल भगवान् के परम भक्त थे, अपितु वे अपने पिता के आज्ञाकारी थे। अतः भगवान् ने उन्हें प्रम्लोचा की पुत्री के साथ विवाह करने की आज्ञा दी।

अपृथग्धर्मशीलानां सर्वेषां वः सुमध्यमा ।

अपृथग्धर्मशीलेयं भूयात्पत्न्यर्पिताशया ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

अपृथक्—किसी अन्तर के बिना; धर्म—व्यापार; शीलानाम्—जिसका चरित्र; सर्वेषाम् वः—तुम सबों का; सु-मध्यमा—पतली कमर वाली लड़की; अपृथक्—समान; धर्म—व्यापार; शीला—अच्छे आचरण वाली; इयम्—यह; भूयात्—हो; पत्नी—पत्नी; अर्पित-आशया—पूर्णतया समर्पित।

तुम सभी भाई भक्त तथा अपने पिता के आज्ञाकारी पुत्र होने के कारण समान स्वभाव वाले हो। यह लड़की भी उसी तरह की है और तुम सबके प्रति समर्पित है। अतः यह लड़की तथा तुम प्राचीनबर्हिषत् के सारे पुत्र एक ही नियम से बँधे होकर समान पद पर स्थित हो।

तात्पर्य : वैदिक नियमों के अनुसार कोई स्त्री एक से अधिक पति वाली नहीं हो सकती, किन्तु पुरुष कई पत्नियों वाला हो सकता है। किन्तु विशेष उदाहरणों में स्त्री के भी एक से अधिक पति हो

सकते हैं। उदाहरणार्थ, द्रौपदी का विवाह पाँचों पाण्डवों के साथ हुआ था। इसी प्रकार भगवान् ने प्राचीनबर्हिषत् के पुत्रों को कण्डु ऋषि तथा प्रम्लोचा से उत्पन्न कन्या के साथ विवाह करने के लिए आदेश दिया। विशेष दशाओं में कन्या को एक से अधिक पुरुषों के साथ विवाह करने की अनुमति प्राप्त है, यदि वह सभी पतियों के साथ समान व्यवहार कर सके। सामान्य स्त्री के लिए ऐसा सम्भव नहीं है। विशेष योग्यता प्राप्त स्त्री को ही एक से अधिक पति करने की छूट है। इस कलिकाल में ऐसी सन्तुलित स्त्री खोज पाना कठिन है। शास्त्र के अनुसार—*कलौ पञ्च विवर्जयेत्*। इस युग में स्त्री अपने देवर के साथ ब्याह नहीं कर सकती। किन्तु आज भी भारत के कुछ पहाड़ी भागों में यह प्रथा चालू है। भगवान् का कथन है—*अपृथग्धर्मशीलेयं भूयात् पत्न्यर्पिताशया*। भगवान् के आशीर्वाद से सब कुछ सम्भव है। भगवान् ने उस कन्या को विशेष आशीर्वाद दिया कि वह कन्या समभाव से सभी भाइयों के प्रति समर्पित रहे। *अपृथग्धर्म* अर्थात् “उद्देश्य में किसी अन्तर के बिना कर्तव्य” की शिक्षा *भगवद्गीता* में दी गई है। *भगवद्गीता* तीन भागों में विभाजित है—कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग। योग शब्द का अर्थ है “भगवान् की ओर से काम करना।” जैसाकि *भगवद्गीता* से (३.९) प्रमाणित है—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥

“श्रीविष्णु के लिए यज्ञ रूप में कर्म करना अनिवार्य है, अन्यथा कर्म मनुष्य को इस जगत से बाँध लेता है। अतः हे कुन्तीपुत्र! उनकी प्रसन्नता के लिए संस्तुत कार्य करो और इस प्रकार करने से तुम सदा अनासक्त तथा बन्धन से मुक्त रहोगे।”

मनुष्य *यज्ञ पुरुष* भगवान् को प्रसन्न करने के लिए अपने कर्तव्यों के अनुसार कार्य कर सकता है। यही *अपृथग्धर्म* कहलाता है। शरीर के विभिन्न अंग भिन्न-भिन्न प्रकार से कार्य कर सकते हैं, किन्तु मूल उद्देश्य तो सम्पूर्ण शरीर का पालन होता है। इसी प्रकार यदि हम भगवान् को प्रसन्न करने के लिए कार्य करें तो हम देखेंगे कि सबों को प्रसन्न किया जा सकता है। हमें प्रचेताओं का अनुसरण करना चाहिए जिनका एकमात्र उद्देश्य परमेश्वर को प्रसन्न करना था। यही *अपृथग्धर्म* कहलाता है। *भगवद्गीता* के अनुसार (१८.६६)—*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज*—सभी प्रकार के धर्मों को त्याग कर मेरी शरण ग्रहण करो। श्रीकृष्ण का यही उपदेश है। हमारा एकमात्र उद्देश्य भगवान् को प्रसन्न करना है। यही

एकत्व या अभिन्नता अथवा अपृथग्धर्म है।

दिव्यवर्षसहस्राणां सहस्रमहतौजसः ।

भौमान्भोक्ष्यथ भोगान्वै दिव्यांश्चानुग्रहान्मम ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

दिव्य—स्वर्गिक; वर्ष—वर्ष; सहस्राणाम्—हजारों का; सहस्रम्—एक हजार; अहत—अपराजित रहकर; ओजसः—तुम्हारा बल; भौमान्—इस संसार का; भोक्ष्यथ—भोगोगे; भोगान्—सुख; वै—निश्चय ही; दिव्यान्—स्वर्गलोक का; च—भी; अनुग्रहात्—कृपा से; मम—मेरी।

तब भगवान् ने सभी प्रचेताओं को आशीर्वाद दिया: हे राजकुमारो, मेरे अनुग्रह से तुम इस संसार की तथा स्वर्ग की सभी सुविधाओं को भोग सकते हो। तुम उन्हें बिना किसी बाधा के पूर्ण समर्थ रहते हुए दस लाख दिव्य वर्षों तक भोग सकते हो।

तात्पर्य : भगवान् ने प्रचेताओं को जितनी लम्बी आयु का आशीर्वाद दिया वह स्वर्गलोक की काल-माप के अनुसार परिगणित होती है। इस पृथ्वी लोक के हमारे छह मास स्वर्गलोक के बारह घंटों के तुल्य है। इस प्रकार तीस दिन बराबर एक मास के और बारह मास एक वर्ष के तुल्य हैं। प्रचेताओं को स्वर्गलोक की इस परिगणना के अनुसार दस लाख वर्षों तक सारी भौतिक सुविधाएँ भोगने का वर प्राप्त हुआ। यद्यपि यह आयु अत्यन्त दीर्घ है, किन्तु प्रचेताओं को सम्पूर्ण शारीरिक बल से युक्त रहने का वर प्रदान किया गया। यदि कोई इस संसार में अनेक वर्षों तक जीवित रहना चाहता है, तो उसे वृद्धावस्था, अक्षमता तथा अन्य अनेक कष्ट सहने होंगे। किन्तु प्रचेताओं को सम्पूर्ण शारीरिक बल सहित भौतिक भोग भोगने का वर मिला। यह विशेष सुविधा उन्हें इसीलिए दी गई जिससे वे पूरी भक्ति करते रहें। अगले श्लोक में इसकी व्याख्या की गई है।

अथ मय्यनपायिन्या भक्त्या पक्वगुणाशयाः ।

उपयास्यथ मद्भाम निर्विद्य निरयादतः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

अथ—अतः; मयि—मुझमें; अनपायिन्या—अविचल; भक्त्या—भक्ति से; पक्व-गुण—भौतिक कल्मष से रहित; आशयाः—मन; उपयास्यथ—प्राप्त करोगे; मत्-धाम—मेरा धाम; निर्विद्य—विरक्त होकर; निरयात्—संसार से; अतः—इस प्रकार।

तत्पश्चात् तुम मेरे प्रति शुद्ध भक्ति विकसित करोगे और समस्त भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाओगे। उस समय तथाकथित स्वर्गलोक तथा नरकलोक में भौतिक भोगों से विरक्त होकर तुम मेरे धाम को लौटोगे।

तात्पर्य : भगवत्कृपा से प्रचेताओं को विशेष सुविधाएँ प्रदान की गई थीं। यद्यपि वे भौतिक सुखोपभोग के लिए लाखों वर्ष जीवित रहे, किन्तु तो भी वे भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में अविचल बने रहे। इस प्रकार लीन रहकर सारे प्रचेता भौतिक आसक्ति से पूर्णतया मुक्त हो गए। भौतिक आसक्ति अत्यन्त प्रबल होती है। भौतिकतावादी एक जन्म में धन, धरती, मित्र, समाज, मित्रता, प्यार आदि अर्जित करता है और इस शरीर के विनष्ट होने पर वह स्वर्गलोक का भी भोग चाहता है। किन्तु यदि मनुष्य भक्ति में लगा रहता है, तो वह समस्त भौतिक सुख तथा दुख से विरक्त हो जाता है। इस संसार में जो लोग स्वर्गलोक भेजे जाते हैं समस्त सुखोपभोग करते कहे जाते हैं, किन्तु जो नरकलोक को भेजे जाते हैं उन्हें नारकीय अवस्था बितानी होती है। किन्तु भक्त स्वर्ग तथा नरक इन दोनों की अवस्थाओं से परे हैं। *भगवद्गीता* के अनुसार (१४.२६) भक्त की स्थिति इस प्रकार है :—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

“जो मनुष्य पूर्ण भक्ति में लगा रहता है, जो किसी भी परिस्थिति में भ्रष्ट नहीं होता है, वह तुरन्त भौतिक प्रकृति के गुणों को पार करके ब्रह्म के पद तक पहुँचता है।”

भक्त सदैव ब्रह्म पद पर स्थिर रहता है। उसे भौतिक सुख या दुख से कुछ सरोकार नहीं रहता। जब वह भक्ति में दृढ़ रहता है और समस्त भौतिक आसक्ति से रहित एवं प्रकृति के तीनों गुणों से अदूषित रहता है, तो वह घर को अर्थात् भगवान् के धाम वापस जाने में सक्षम होता है। यद्यपि विशेष आशीर्वाद के कारण प्रचेतागण लाखों वर्षों तक भौतिक सुखों का भोग कर सकते थे, किन्तु वे उनके प्रति आसक्त नहीं रहे। अतः भौतिक सुखोपभोग के बाद वे वैकुण्ठलोक प्राप्त करके और भगवान् के पास वापस गए।

पक्वगुणाशयाः शब्द का विशिष्ट महत्त्व है, क्योंकि इसका अर्थ है कि भक्ति द्वारा मनुष्य प्रकृति के तीनों गुणों के प्रभाव को छोड़ने में समर्थ होता है। जब तक मनुष्य इन गुणों से प्रभावित होता रहता है, वह भगवान् के पास नहीं लौट पाता। इसकी स्पष्ट व्याख्या हुई है कि भौतिक जगत के सारे लोक—ब्रह्मलोक से नरकलोक तक—भक्त के लिए अनुपयुक्त स्थान हैं। *पदं पदं यद्विपदां न तेषां ।* जहाँ पग-पग पर विपदा हो वह निश्चय ही, सुखमय स्थान नहीं है। अतः भगवान् *भगवद्गीता* (८.१६) में कहते

हैं—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥

“हे अर्जुन! भौतिक जगत में सबसे ऊपरी ब्रह्मलोक से लेकर नीचे तक के सभी लोक क्लेशपूर्ण स्थान हैं, जहाँ जन्म तथा मृत्यु बारम्बार होते हैं। परन्तु हे कुन्तीपुत्र! जो मेरे धाम को प्राप्त हो जाता है, वह इस संसार में पुनः जन्म नहीं लेता।”

अतः यदि कोई इस भौतिक ब्रह्माण्ड में सर्वोच्च लोक ब्रह्मलोक को भी प्राप्त कर ले तो भी कोई लाभ नहीं। किन्तु यदि कोई किसी प्रकार से भगवान् के धाम को जा सके तो वह फिर इस संसार में कभी नहीं लौटता।

गृहेष्वाविशतां चापि पुंसां कुशलकर्मणाम् ।

मद्वार्तायातयामानां न बन्धाय गृहा मताः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

गृहेषु—गृहस्थ जीवन में; आविशताम्—प्रविष्ट हुए; च—तथा; अपि—भी; पुंसाम्—मनुष्यों का; कुशल-कर्मणाम्—शुभ कर्मों में लगे हुए; मत्-वार्ता—मेरी कथाओं में; यात—बीतता है; यामानाम्—जिसका प्रत्येक क्षण; न—नहीं; बन्धाय—बन्धन हेतु; गृहाः—गृहस्थ जीवन; मताः—विचार किया गया।

जो लोग भक्ति के शुभ कार्यों में लगे होते हैं, वे यह भलीभाँति समझते हैं कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ही समस्त कर्मों के परम भोक्ता हैं। अतः जब भी ऐसा व्यक्ति कोई कार्य करता है, तो कर्मफल भगवान् को अर्पित कर देता है और भगवान् की कथाओं में व्यस्त रहते हुए ही सारा जीवन बिताता है। ऐसा व्यक्ति गृहस्थाश्रम में रह कर भी कर्मफलों से प्रभावित नहीं होता।

तात्पर्य : सामान्यतः परिवार में रहते हुए व्यक्ति सकाम कर्म में अत्यधिक आसक्त रहता है अर्थात् वह अपने कर्मों के फलों को भोगने का प्रयास करता है। किन्तु भक्त जानता है कि श्रीकृष्ण ही परम भोक्ता तथा स्वामी हैं (भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्)। अतः भक्त अपने को किसी भी व्यापार का स्वामी नहीं समझता। वह सदा भगवान् को ही स्वामी मानता है, अतः अपने सारे व्यापारों के फल परमेश्वर को ही अर्पित करता रहता है। अतः जो व्यक्ति इस तरह अपने परिवार तथा बच्चों के बीच रहता है, वह कभी भी भौतिक संसार के कल्मष से प्रभावित नहीं होता। इसकी पुष्टि भगवद्गीता

(३.९) में इस प्रकार हुई है—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥

जो व्यक्ति अपने कर्मों के फल भोगना चाहता है, वह कर्म फल से बँध जाता है। किन्तु जो व्यक्ति फल या लाभ को भगवान् को अर्पित कर देता है, वह उनसे नहीं बँधता। सफलता का यही रहस्य है। सामान्यतः कर्मफल से मुक्त होने के उद्देश्य से ही लोग संन्यास ग्रहण करते हैं। जो व्यक्ति अपने कर्मों के फल को ग्रहण नहीं करता, अपितु परमेश्वर को अर्पित कर देता है, वह निश्चित रूप से मुक्त अवस्था में रहता है। श्री रूप गोस्वामी ने इसकी पुष्टि *भक्तिरसामृत सिन्धु* में इस प्रकार की है—

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा ।

निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥

जो व्यक्ति अपने जीवन, धन, वाणी, बुद्धि तथा अपने पास जो कुछ भी है उस सबसे भगवान् की सेवा में लगा रहता है, वह हर अवस्था में मुक्त होगा। ऐसा व्यक्ति जीवन्मुक्त कहलाता है। जो लोग कृष्ण-भक्ति से रहित होकर भौतिक कार्यों में लगे रहते हैं, वे भवबन्धन में अधिकाधिक फँसते जाते हैं। उन्हें अपने सारे कर्मों के फल भोगने पड़ते हैं। अतः यह कृष्णभावनामृत-आन्दोलन मानवता के लिए महानतम वरदान है क्योंकि यह मनुष्य को कृष्णभक्ति में सदैव लगाये रखता है। भक्तगण कृष्ण का ही चिन्तन करते हैं, कृष्ण के लिए ही कर्म करते हैं, उन्हीं के लिए खाते, पीते तथा सोते हैं। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु कृष्ण की सेवा में लगती है। कृष्ण भक्ति में लगा पूरा जीवन मनुष्य को भौतिक कल्मष से बचाता है। जैसाकि भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज ने कहा है—

कृष्ण-भजने याहा हय अनुकूल ।

विषय बलिया त्यागे ताहा हय भूल ॥

यदि कोई इतना सक्षम हो कि प्रत्येक वस्तु को भगवान् की सेवा में अर्पित कर सके तो उसके लिए इस भौतिक जगत का परित्याग भारी भूल होगी। मनुष्य को सीखना चाहिए कि किस प्रकार प्रत्येक वस्तु को भगवान् की सेवा में लगाया जाये, क्योंकि प्रत्येक वस्तु का सम्बन्ध श्रीकृष्ण से है। यही जीवन का असली उद्देश्य और सफलता का रहस्य है। *भगवद्गीता* (३.१९) में इसकी पुष्टि की

गई है—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।

असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥

“इसलिए कर्मफल में अनासक्त भाव से कर्तव्य की भाँति कर्म करना चाहिए, क्योंकि अनासक्त होकर किया गया कर्म परम लक्ष्य की प्राप्ति कराने वाला है।”

भगवद्गीता के तृतीय अध्याय में इन्द्रियतृप्ति हेतु तथा परमेश्वर को प्रसन्न करने के हेतु भौतिक कार्यों पर विशेष विचार किया गया है। निष्कर्ष यह है कि ये एक जैसे नहीं हैं। इन्द्रियतृप्ति के हेतु किये गये कार्य भौतिक बन्धन के कारण हैं, जबकि कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए किये गये वही कार्य मुक्ति के कारण बनते हैं। वही कार्य बन्धन तथा मुक्ति का कारण कैसे हो सकता है, इसकी व्याख्या इस प्रकार है—दूध की बनी हुई बहुत सी वस्तुएँ—यथा खीर, रबड़ी इत्यादि—खाने से कुपच हो सकता है, किन्तु कुपच होते हुए भी दूध से ही बना और काली मिर्च तथा नमक से मिला मट्टा कुपच को दूर कर देता है। दूसरे शब्दों में, दूध की बनी एक वस्तु कुपच तथा अतिसार का कारण बन सकती है, किन्तु दूध से ही बनी दूसरी वस्तु उसे अच्छा कर सकती है।

यदि कोई व्यक्ति विशेष भगवत्कृपा से भौतिक ऐश्वर्य को प्राप्त करता है, तो उसे उस ऐश्वर्य को बन्धन का कारण नहीं समझना चाहिए। जब किसी प्रौढ़ भक्त को ऐश्वर्य-लाभ होता है, तो उस पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि वह इस ऐश्वर्य को भगवान् की सेवा में लगाने की विधि जानता है। संसार के इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। पृथु महाराज, प्रह्लाद महाराज, जनक, ध्रुव, वैवस्वत मनु तथा महाराज इक्ष्वाकु जैसे अनेक राजा हुए हैं। ये महान् राजा थे और इन पर भगवान् की विशेष कृपा भी थी। यदि भक्त प्रौढ़ (परिपक्व) नहीं है, तो भगवान् उसके समस्त ऐश्वर्य को छीन लेते हैं; भगवान् स्वयं इस सिद्धान्त को बताते हैं—*यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः*—मैं अपने भक्त पर जो सबसे पहली कृपा दिखाता हूँ, वह है उसके समस्त ऐश्वर्य का हरण। जो ऐश्वर्य भक्ति में बाधक होता है, उसे भगवान् ले लेते हैं, किन्तु यदि कोई व्यक्ति भक्ति में परिपक्व है, तो वे उसे सारी भौतिक सुविधाएँ प्रदान करते हैं।

नव्यवद्धृदये यज्ञो ब्रह्मतद्ब्रह्मवादिभिः ।

न मुह्यन्ति न शोचन्ति न हृष्यन्ति यतो गताः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

नव्य-वत्—सदैव नवीन; हृदये—हृदय में; यत्—क्योंकि; ज्ञः—परमात्मा, परम ज्ञाता; ब्रह्म—ब्रह्म; एतत्—यह; ब्रह्म-वादिभिः—परम सत्य के पक्षधरों द्वारा; न—कभी नहीं; मुह्यन्ति—मोहग्रस्त होते हैं; न—कभी नहीं; शोचन्ति—पश्चात्ताप करते हैं; न—कभी नहीं; हृष्यन्ति—हर्षित होते हैं; यतः—जब; गताः—प्राप्त किये हुए।

सदैव भक्ति कार्यो में संलग्न रह कर भक्तजन अपने आपको ताजा तथा अपने कार्यो में सदैव नवीन (नया नया) अनुभव करते हैं। भक्त के हृदय के भीतर सर्वज्ञाता परमात्मा प्रत्येक वस्तु को अधिकाधिक नया बनाता रहता है। परम सत्य के पक्षधर (ब्रह्मवादी) इसे ब्रह्मभूत कहते हैं। ऐसी ब्रह्मभूत अर्थात् मुक्त अवस्था में मनुष्य कभी मोहग्रस्त नहीं होता। न ही वह पश्चात्ताप करता है, न वृथा ही हर्षित होता है। यह ब्रह्मभूत अवस्था के कारण होता है।

तात्पर्य : भक्त अपने अन्तःकरण में स्थित परमात्मा द्वारा अनेक प्रकार से भक्ति में अग्रसर होने के लिए प्रेरित होता रहता है। भक्त न तो कभी ऊबने का अनुभव करता है, न ही अपने को निष्क्रिय अवस्था में समझता है। भौतिक जगत में यदि कोई किसी के नाम को बार-बार पुकारे तो वह कुछ मिनटों में ऊब उठता है, किन्तु हरे कृष्ण मंत्र को अहर्निश थके बिना जपा जा सकता है। जप की संख्या बढ़ाने पर नित नया जान पड़ता है। श्रील रूप गोस्वामी का कहना है कि यदि किसी तरह उन्हें लाखों कान तथा जीभें मिल जातीं तो वे हरे कृष्ण महामंत्र के जप के दिव्य आनन्द का आस्वाद न कर सकते। अत्यन्त सिद्ध भक्त के लिए कोई भी वस्तु प्रेरणाहीन नहीं लगती। भगवद्गीता (१०.१०) में भगवान् कहते हैं कि वे प्रत्येक व्यक्ति के अन्तःकरण में स्थित हैं और स्मरण तथा विस्मरण में जीव की सहायता करते हैं। भगवत्कृपा से भक्त प्रेरणा ग्रहण करते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

“जो मुझमें निरन्तर श्रद्धा रखते हैं और प्रेमपूर्वक मेरी पूजा करते हैं, उन्हें मैं बुद्धि प्रदान करता हूँ जिससे वे मेरे पास आ सकते हैं।”

जैसाकि कहा जा चुका है, जो भक्ति के शुभ कार्य (कुशलकर्माणां) में लगे होते हैं, वे परमात्मा द्वारा निर्देशित होते हैं, जिसे इस श्लोक में ज्ञ कहा गया है अर्थात् वह जो भूत, वर्तमान तथा भविष्य सभी जानता है। परमात्मा केवल एकनिष्ठ, शुद्ध भक्तों को ही आदेश देता है कि वे भगवान् तक पहुँचने

में किस प्रकार प्रगति कर सकते हैं। इस प्रसंग में श्रील जीव गोस्वामी कहते हैं कि परमात्मा प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में स्थित है, किन्तु भक्त के हृदय में वह स्वयं अपने को अधिकाधिक नवीन रूप में प्रकट करता है। उससे प्रेरणा ग्रहण करके भक्त उसकी भक्ति में और अधिक दिव्य आनन्द का अनुभव करता है।

मैत्रेय उवाच

एवं ब्रुवाणं पुरुषार्थभाजनं

जनार्दनं प्राञ्जलयः प्रचेतसः ।

तद्दर्शनध्वस्ततमोरजोमला

गिरागृणनाद्गदया सुहृत्तमम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; एवम्—इस प्रकार; ब्रुवाणम्—बोलते हुए; पुरुष-अर्थ—जीवन के परम लक्ष्य का; भाजनम्—दाता; जन-अर्दनम्—भक्त के समस्त अवगुणों को दूर करने वाला; प्राञ्जलयः—हाथ जोड़ कर; प्रचेतसः—प्रचेतागण; तत्—उसको; दर्शन—देखकर; ध्वस्त—नष्ट; तमः—तमोगुण का; रजः—रजोगुण का; मलाः—मल, कल्मष; गिरा—वाणी से; अगृणन्—प्रार्थना की; गद्गदया—गद्गद होकर; सुहृत्-तमम्—समस्त मित्रों में श्रेष्ठ को।

मैत्रेय ऋषि ने कहा : भगवान् के इस प्रकार कहने पर प्रचेताओं ने उनकी प्रार्थना की।

भगवान् जीवन की समस्त सिद्धियों को देने वाले और परम कल्याणकर्ता हैं। वे परम मित्र भी हैं, क्योंकि वे भक्तों के समस्त कष्टों को हरते हैं। प्रचेताओं ने आनन्दातिरेक से गद्गद वाणी में प्रार्थना करनी प्रारम्भ की। वे भगवान् का साक्षात् दर्शन करने से शुद्ध हो गये।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् को पुरुषार्थ भाजनम् (जीवन के परम लक्ष्य के प्रदाता) कहा गया है। हमें जीवन में जो भी सफलता चाहिए, वह भगवान् की कृपा से प्राप्त हो सकती है। चूँकि प्रचेताओं को पहले से भगवान् की कृपा प्राप्त थी, अतः उन पर तीनों भौतिक गुणों के कल्मष (मल) का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उनसे सारे भौतिक गुण उसी तरह दूर हो गये जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही अंधकार भाग जाता है। चूँकि भगवान् उनके समक्ष प्रकट हुए, अतः रजो तथा तमोगुणों का सारा कल्मष दूर हो गया। इसी प्रकार जब शुद्ध भक्त हरे कृष्ण महामंत्र का जप करता है, तो वह भी समस्त कल्मष से शुद्ध हो जाता है, क्योंकि भगवान् तथा भगवान् एक हैं, जैसाकि श्रीमद्भागवत (१.२.१७) में कहा गया है—

शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः ।

हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम् ॥

“पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण जो प्रत्येक हृदय में स्थित परमात्मा हैं और सत्यनिष्ठ भक्तों के कल्याणकर्ता हैं, अपने उन भक्तों के हृदयों को भौतिक सुख की इच्छाओं से विमल करते हैं, जो उनके संदेशों को सुनने के लिए उत्सुक रहते हैं। ये संदेश ठीक से श्रवण तथा कीर्तन करने पर अत्यन्त कल्याणकारी होते हैं।”

भगवन्नाम स्वयं भगवान् है। यदि कोई नाम का कीर्तन करता है तथा सुनता है, तो वह शुद्ध हो जाता है। क्रमशः सारा भौतिक कल्मष दूर हो जाता है। प्रचेतागण भगवान् की उपस्थिति के कारण पहले ही शुद्ध हो चुके थे, अतः वे हाथ जोड़कर समुचित प्रार्थना कर सके। दूसरे शब्दों में, जब भक्तगण भक्ति में लग जाते हैं, तो तुरन्त ही उनके सारे कल्मष दूर हो जाते हैं, जिसकी पुष्टि भगवद्गीता में हुई है (स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते)। कभी-कभी भक्त जन असन्तुष्ट हो जाते हैं कि भगवान् उन्हें अपना साक्षात् दर्शन नहीं देते। अतः जब प्रचेताओं ने साक्षात् भगवान् को देखा तो उनकी अप्रसन्नता दूर हो गई।

प्रचेतस ऊचुः

नमो नमः क्लेशविनाशनाय

निरूपितोदारगुणाह्वयाय ।

मनोवचोवेगपुरोजवाय

सर्वाक्षमार्गैरगताध्वने नमः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

प्रचेतसः ऊचुः—प्रचेताओं ने कहा; नमः—नमस्कार है; नमः—नमस्कार है; क्लेश—भौतिक दुख; विनाशनाय—दूर करने वाले को; निरूपित—निर्णीत; उदार—उदार; गुण—गुण; आह्वयाय—नाम वाले को; मनः—मन का; वचः—वाणी का; वेग—चाल; पुरः—सामने; जवाय—गति वाले को; सर्व-अक्ष—सभी इन्द्रियों के; मार्गैः—रास्तों से; अगत—अदृश्य; अध्वने—जिसका मार्ग; नमः—हम नमस्कार करते हैं।

प्रचेताओं ने कहा : हे भगवन्, आप समस्त प्रकार के क्लेशों को हरने वाले हैं। आपके उदार दिव्य गुण तथा पवित्र नाम कल्याणप्रद हैं। इसका निर्णय पहले ही हो चुका है। आप मन तथा वाणी से भी अधिक वेग से जा सकते हैं। आप भौतिक इन्द्रियों द्वारा नहीं देखे जा सकत। अतः हम आपको बारम्बार सादर नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : निरूपित शब्द जिसका अर्थ है “निष्कर्ष निकाला” अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ईश्वर को

खोजने अथवा आध्यात्मिक ज्ञान में प्रगति के लिए कोई शोध नहीं करनी होती है। वेदों में निष्कर्ष रूप से सब कुछ दिया हुआ है। अतः भगवद्गीता (१५.१५) में भगवान् कहते हैं—वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः—वेदों के द्वारा भगवान् का ज्ञान प्राप्त करना पूर्ण तथा निर्णायक होता है। वेदों का कथन है—अतः श्रीकृष्ण नामादि न भवेद्ग्राह्यम् इन्द्रियैः—हमारी कुंठित भौतिक इन्द्रियों के द्वारा भगवान् के दिव्य नाम, रूप, गुण तथा लीलाएँ नहीं समझी जा सकतीं। सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः—जब भक्त अपनी इन्द्रियों को भक्ति में लगाता है, तो भगवान् अपनी अहैतुकी दया से भक्त के समक्ष स्वतः प्रकट होते हैं। यही निर्णायक वेद-विधि है। वेद यह भी संकेत करते हैं कि भगवान् के पवित्र नामों का कीर्तन करने-मात्र से निश्चित रूप से आध्यात्मिक प्रगति हो सकती है। हम भगवान् के पास मन या वाणी के वेग से नहीं पहुँच सकते, किन्तु यदि हम भक्ति में लगे रहें तो उनके पास सरलता से तथा तेजी से पहुँच सकते हैं। दूसरे शब्दों में, परमेश्वर भक्ति से आकृष्ट होते हैं और अपेक्षा इसके कि हम उन तक अपनी मीमांसा से पहुँचें वे हमारे पास अधिक वेग से पहुँच सकते हैं। भगवान् ने कहा है कि वे ज्ञान की सीमा तथा विचार की गति से परे हैं फिर भी उनकी अहैतुकी कृपा से उन तक आसानी से पहुँचा जा सकता है। इस प्रकार वे अपनी अहैतुकी कृपा से ही प्राप्त किये जा सकते हैं। अन्य विविधों प्रभावशाली नहीं होतीं।

शुद्धाय शान्ताय नमः स्वनिष्ठया
मनस्यपार्थ विलसद्द्वयाय ।
नमो जगत्स्थानलयोदयेषु
गृहीतमायागुणविग्रहाय ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

शुद्धाय—शुद्ध रूप को; शान्ताय—अत्यन्त शान्त रूप को; नमः—नमस्कार है; स्व-निष्ठया—अपने पद पर स्थित रह कर; मनसि—मन में; अपार्थम्—अर्थहीन, निरर्थ; विलसत्—प्रकट होते हुए; द्वयाय—द्वैत जगत वाले को; नमः—नमस्कार; जगत्—दृश्य जगत का; स्थान—पालन (स्थिति); लय—संहार; उदयेषु—तथा उत्पत्ति के लिए; गृहीत—स्वीकृत; माया—भौतिक; गुण—प्रकृति के गुणों के; विग्रहाय—रूपों को।

हे भगवन्, हम आपको प्रणाम करने की याचना करते हैं। जब मन आप में स्थिर होते हैं, तो यह द्वैतपूर्ण संसार भौतिक सुख का स्थान होते हुए भी व्यर्थ प्रतीत होता है। आपका दिव्य रूप दिव्य आनन्द से पूर्ण है। अतः हम आपका अभिवादन करते हैं। ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के रूप में आपका प्राकट्य इस दृश्य जगत की उत्पत्ति, पालन तथा संहार के उद्देश्य से होता है।

तात्पर्य : शुद्ध भक्त, जिसका मन सदैव भगवद्भक्ति में लगा रहता है, इस संसार की असारता को समझता है। यद्यपि ऐसा भक्त भौतिक कार्यों को करने में लगा रहता है, किन्तु यह अवस्था *अनासक्ति* कहलाती है। जैसाकि श्रील रूप गोस्वामी ने बताया है—*अनासक्तस्य विषयान् यथार्हमुपयुञ्जतः ।* भक्त सदैव भौतिक कार्यों के प्रति अनासक्त रहता है, क्योंकि मुक्त अवस्था में उसका मन सदैव भगवान् के चरणकमलों में स्थिर रहता है।

यह भौतिक जगत द्वैत कहलाता है। भक्त अच्छी तरह जानता है कि इस संसार की प्रत्येक वस्तु भगवान् की शक्ति के प्राकट्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। प्रकृति के तीनों गुणों को बनाये रखने के लिए परमेश्वर ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के विभिन्न रूप धारण करते हैं। इन गुणों से अप्रभावित रहकर भगवान् इस दृश्य जगत की उत्पत्ति, पालन तथा संहार के लिए विविध रूप धारण करते हैं। निष्कर्ष यह है कि यद्यपि शुद्ध भक्त भगवान् की सेवा करते हुए भौतिक कार्यों में संलग्न प्रतीत होता है, किन्तु उसे भली-भाँति पता रहता है कि इन्द्रियतृप्ति हेतु भौतिक सुख का कोई उपयोग नहीं है।

नमो विशुद्धसत्त्वाय हरये हरिमेधसे ।

वासुदेवाय कृष्णाय प्रभवे सर्वसात्वताम् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार; विशुद्ध-सत्त्वाय—आपको जिसका अस्तित्व समस्त भौतिक प्रभाव से मुक्त है; हरये—भक्तों के कष्टों को हरने वाला; हरि-मेधसे—जिसका मस्तिष्क बद्धजीव के उद्धार हेतु कार्य करता है; वासुदेवाय—सर्वव्यापी भगवान् को; कृष्णाय—कृष्ण को; प्रभवे—प्रभाव को बढ़ाने वाला; सर्व-सात्वताम्—सभी प्रकार के भक्तों का।

हे भगवन्, हम आपको सादर नमस्कार करते हैं, क्योंकि आपका अस्तित्व समस्त भौतिक प्रभावों से पूर्णतया स्वतंत्र है। आप सदैव अपने भक्तों के क्लेशों को हर लेते हैं, क्योंकि आपका मस्तिष्क जानता है कि ऐसा किस प्रकार करना चाहिए। आप परमात्मा रूप में सर्वत्र रहते हैं, अतः आप वासुदेव कहलाते हैं। आप वसुदेव को अपना पिता मानते हैं और आप कृष्ण नाम से विख्यात हैं। आप इतने दयालु हैं कि अपने समस्त प्रकार के भक्तों के प्रभाव को बढ़ाते हैं।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में कहा गया है कि दृश्य जगत की सृष्टि, पालन तथा संहार के उद्देश्य से (*गृहीतमाया गुणविग्रहाय*) भगवान् तीन प्रकार के शरीर (ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव) धारण करते हैं। भौतिक जगत के तीन प्रमुख देव (ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव) गुण अवतार कहलाते हैं। भगवान् के अनेक प्रकार के अवतार हैं, किन्तु इस जगत में पहला अवतार ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर (शिव) के

रूप में हुआ। इनमें से ब्रह्मा तथा शिव भौतिक शरीर धारण करते हैं, किन्तु भगवान् विष्णु भौतिक शरीर स्वीकार नहीं करते, फलतः उन्हें *विशुद्ध-सत्त्व* कहा जाता है। उनका अस्तित्व प्रकृति के तीनों गुणों के कल्मष से सर्वथा मुक्त है। अतः विष्णु को ब्रह्मा तथा शिव की कोटि का नहीं मानना चाहिए। शास्त्र हमें ऐसा करने से वर्जित करते हैं।

यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मरुद्रादि दैवतैः ।

समत्वेनैव वीक्षेत स पाषण्डी भवेद्ध्रुवम् ॥

जो भगवान् विष्णु को ब्रह्मा या शिव जैसे देवों की कोटि में मानता है या ब्रह्मा तथा शिव को विष्णु के तुल्य मानता है उसे *पाषण्डी* (श्रद्धाविहीन, विश्वास न करने वाला) मानना चाहिए। अतः इस श्लोक में विष्णु को *नमो विशुद्धसत्त्वाय* के रूप से पृथक् किया गया है। हमारे समान जीवात्मा होते हुए भी ब्रह्माजी अपने पुण्यकर्मों के कारण महान् हैं, इसीलिए उन्हें ब्रह्मा का उच्च पद प्राप्त है। शिवजी वास्तव में जीवात्मा जैसे नहीं हैं, किन्तु वे भगवान् नहीं हैं। उनकी स्थिति भगवान्—जीवात्मा विष्णु तथा ब्रह्मा के बीचोंबीच है। अतः *ब्रह्म-संहिता* (५.४५) में शिवजी की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

क्षीरं यथा दधि विकारविशेषयोगात्

सञ्जायते न हि ततः पृथगस्ति हेतोः ।

यः शम्भुतामपि तथा समुपैति कार्याद्

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

शिवजी को दधि के समान माना गया है। दधि रूपांतरित दूध ही तो होता है फिर भी उसे दूध नहीं माना जाता। इसी प्रकार शिवजी भगवान् विष्णु की लगभग सभी शक्तियों को धारण करते हैं और जीव के गुणों से भी ऊपर हैं, किन्तु वे विष्णु के सर्वथा समान नहीं हैं जिस प्रकार दधि रूपांतरित दूध होते हुए भी दूध के समान नहीं होता।

यहाँ पर भगवान् को *वासुदेवाय कृष्णाय* भी कहा गया है। कृष्ण आदि भगवान् हैं और सारे विष्णु उनके *स्वांश* या *कला* हैं। *स्वांश* को *अंश* भी कहते हैं। सभी विष्णु तत्त्व स्वांश हैं। कृष्ण को वासुदेव कहते हैं, क्योंकि वे इस संसार में वसुदेव के पुत्र के रूप में प्रकट हुए थे। इसी प्रकार वे देवकीनन्दन,

यशोदानन्दन, नन्दनन्दन आदि कहलाते हैं।

भगवान् अपने भक्तों के प्रभाव को बढ़ाने में बारम्बार रुचि लेते हैं। अतः यहाँ पर उन्हें *प्रभवे सर्वसात्वताम्* कहा गया है। *सात्वत* जाति वैष्णवों अर्थात् भगवान् के शुद्ध भक्तों का एक समुदाय है। भगवान् की शक्तियाँ असीम हैं और वे चाहते हैं कि उनके भक्तों को भी असीम शक्तियाँ प्राप्त हों। अतः भगवद्भक्त अन्य जीवों से सदैव भिन्न होता है।

हरि शब्द का अर्थ है समस्त क्लेशों का हरण करने वाला तथा *हरिमेधसे* का अर्थ है कि भगवान् बद्धजीव को माया के चंगुल से छुड़ाने के लिए सदैव योजना बनाते रहते हैं। भगवान् इतने दयालु हैं कि बद्धजीवों के उद्धार के लिए स्वयं अवतरित होते हैं और जब भी वे आते हैं, अपनी योजनाएँ बनाते हैं।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

“भक्तजनों का उद्धार, दुष्टों का नाश तथा धर्म की पुनः स्थापना के लिए मैं युगयुग में प्रकट होता हूँ।” (*भगवद्गीता* ४.८) ।

चूँकि भगवान् समस्त बद्धजीवों का माया के चंगुल से उद्धार करते हैं इसलिए वे *हरिमेधस्* कहलाते हैं। अवतारों की सूची में कृष्ण को परम तथा आदि ईश्वर कहा गया है—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।

इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे ॥

(*भागवत* १.३.२८)

जब इस भौतिक संसार में भगवद्भक्त देवता असुरों द्वारा पीड़ित किये जाते हैं, तो आदि भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट होते हैं।

नमः कमलनाभाय नमः कमलमालिने ।

नमः कमलपादाय नमस्ते कमलेक्षण ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

नमः—सादर नमस्कार है; कमल-नाभाय—भगवान् को जिनकी नाभि से आदि कमल पुष्प प्रकट हुआ; नमः—नमस्कार; कमल-मालिने—कमल पुष्प की माला धारण करने वाला; नमः—नमस्कार; कमल-पादाय—जिसके चरणकमल पुष्प के समान सुन्दर तथा सुगन्धित हैं; नमः ते—आपको नमस्कार है; कमल-ईक्षण—जिनके नेत्र कमल की पंखड़ियों के सदृश हैं।

हे भगवन्, हम आपको सादर नमस्कार करते हैं, क्योंकि आपकी ही नाभि से कमल पुष्प निकलता है, जो समस्त जीवों का उद्गम है। आप सदैव कमल की माला से सुशोभित रहते हैं और आपके चरण सुगन्धित कमल पुष्प के समान हैं। आपके नेत्र भी कमल पुष्प की पंखड़ियों के सदृश हैं, अतः हम आपको सदा ही सादर नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : कमलनाभाय शब्द सूचित करता है कि भगवान् विष्णु इस सृष्टि के उद्गम हैं। गर्भोदकशायी विष्णु की नाभि से कमल पुष्प फूटता है। इस पुष्प से ब्रह्माण्ड के पहले प्राणी श्रीब्रह्मा का जन्म होता है और बाद में ब्रह्मा सारे ब्रह्माण्ड की सृष्टि करते हैं, अतः समस्त सृष्टि के उद्गम भगवान् विष्णु हैं और सारे विष्णुतत्त्वों के उद्गम भगवान् कृष्ण हैं। फलस्वरूप समस्त वस्तुओं के उद्गम श्रीकृष्ण हैं। इसकी पुष्टि भगवद्गीता से (१०.८) भी होती है—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।

इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥

“मैं अप्राकृत तथा प्राकृत जगत का कारण हूँ। प्रत्येक वस्तु मुझी से उद्भूत है। जो बुद्धिमान इसे ठीक से जानता है, वह भक्ति में लगता है और अपने हृदय से मेरी पूजा करता है।” भगवान् कृष्ण कहते हैं “मैं प्रत्येक वस्तु का उद्गम हूँ।” अतः हम जो कुछ भी देखते हैं वह उन्हीं से प्रकट होता है। वेदान्त के इस सूत्र से भी इसकी पुष्टि होती है—*जन्माद्यस्य यतः*—“परम सत्य वह है, जिससे प्रत्येक वस्तु उद्भूत होती है।”

नमः कमलकिञ्जल्कपिशङ्गामलवाससे ।

सर्वभूतनिवासाय नमोऽयुङ्क्ष्महि साक्षिणे ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार; कमल-किञ्जल्क—कमल पुष्प के केसर के समान; पिशङ्ग—पीला; अमल—स्वच्छ; वाससे—उसको जिसका वस्त्र; सर्व-भूत—समस्त जीवों के; निवासाय—आश्रय को; नमः—नमस्कार; अयुङ्क्ष्महि—करने दो; साक्षिणे—परम साक्षी को।

हे भगवन्, आपके द्वारा धारण किया गया वस्त्र कमल पुष्प के केसर के समान पीले रंग का है, किन्तु यह किसी भौतिक पदार्थ का बना हुआ नहीं है। प्रत्येक हृदय में निवास करने के

कारण आप समस्त जीवों के समस्त कार्यों के प्रत्यक्ष साक्षी हैं। हम आपको पुनःपुनः सादर नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में भगवान् के वस्त्र तथा उनकी सर्वव्यापकता का वर्णन हुआ है। भगवान् पीले रंग का वस्त्र धारण करते हैं, किन्तु उसे कभी भौतिक नहीं समझना चाहिए। उनके वस्त्र भी भगवान् हैं। वे भगवान् से अभिन्न हैं, क्योंकि वे आध्यात्मिक हैं।

सर्वभूतनिवासाय शब्द और आगे स्पष्ट करता है कि भगवान् किस प्रकार प्रत्येक हृदय में वास करते हैं और बद्धजीव के सारे कार्यों के प्रत्यक्ष साक्षी का कार्य करते हैं। इस जगत में बद्धजीव इच्छाएँ रखते हैं और इन्हीं के अनुसार कार्य करते हैं। इन सारे कार्यों को भगवान् देखते रहते हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* द्वारा (१५.१५) भी होती है—*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—“मैं सबों के हृदय में आसीन हूँ और मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न हूँ।” भगवान् प्रत्येक प्राणी के हृदय में उपस्थित हैं और जीव को बुद्धि प्रदान करते हैं। जीव की इच्छाओं के अनुसार ही भगवान् उसे स्मरण या विस्मरण कराते रहते हैं। यदि जीव आसुरी होता है और भगवान् को भूलना चाहता है, तो भगवान् उसे ऐसी बुद्धि देते हैं कि वह उन्हें सदैव भूला रहे। इसी प्रकार जब भक्त भगवान् की सेवा करना चाहता है, तो परमात्मा स्वरूप भगवान् उसे बुद्धि प्रदान करते हैं कि वह भक्ति में प्रगति करे। भगवान् हमारे सारे कार्यों के साक्षी बने रहते हैं और हमारी इच्छाओं को अनुभव करते हैं। परमेश्वर हमें इच्छानुसार कार्य करने की सुविधाएँ प्रदान करते हैं।

रूपं भगवता त्वेतदशेषक्लेशसङ्क्षयम् ।

आविष्कृतं नः क्लिष्टानां किमन्यदनुकम्पितम् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

रूपम्—स्वरूप; भगवता—आप भगवान् द्वारा; तु—लेकिन; एतत्—यह; अशेष—अनन्त; क्लेश—कष्ट; सङ्क्षयम्—भगाने के लिए; आविष्कृतम्—प्रकट; नः—हम सबका; क्लिष्टानाम्—भौतिक दशाओं से कष्ट पाने वालों का; किम् अन्यत्—क्या कहें; अनुकम्पितम्—जिन पर आपकी कृपा रहती है।

हे भगवन्, हम बद्धजीव देहात्मबुद्धि के कारण सदैव अज्ञान से घिरे रहते हैं, अतः हमें भौतिक जगत के क्लेश ही सदैव प्रिय लगते हैं। इन क्लेशों से हमारा उद्धार करने के लिए ही आपने इस दिव्य रूप में अवतार लिया है। यह हम-जैसे कष्ट भोगने वालों पर आपकी अनन्त अहैतुकी कृपा का प्रमाण है। तो फिर उन भक्तों के विषय में क्या कहें जिनके प्रति आप सदैव

कृपालु रहते हैं ?

तात्पर्य : जब भगवान् अपने आदि रूप में प्रकट होते हैं, तो वे पवित्रात्माओं का उद्धार और दुष्टों के संहार के लिए कार्य करते हैं (*भगवद्गीता* ४.८)। यद्यपि वे असुरों का संहार करते हैं, किन्तु फिर भी इससे उन्हें लाभ मिलता है। कहा गया है कि जितने प्राणी कुरुक्षेत्र युद्ध में मरे थे उन्हें अपनी आदि स्वाभाविक स्थिति (स्वरूप) प्राप्त हो गई थी, क्योंकि उन्हें अर्जुन के रथ पर आसीन श्रीकृष्ण के साक्षात् दर्शन का सुअवसर प्राप्त हुआ था। कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल पर ऊपर-ऊपर से दो बातें चल रही थीं—असुरों का विनाश हो रहा था और भक्त अर्जुन की रक्षा की जा रही थी। किन्तु जो परिणाम निकला वह सबों के लिए समान था। इसीलिए कहा जाता है कि भगवान् के प्रकट होने से भौतिक जगत के कारण उत्पन्न सभी तरह के क्लेश कम हो जाते हैं।

इस श्लोक में यह स्पष्ट उल्लेख है कि यह स्वरूप (*अशेषक्लेशसंक्षयम्*) न केवल भक्तों वरन् अन्य सबों द्वारा अनुभव किये जाने वाले क्लेशों को कम करने के लिए है *आविष्कृतं नः क्लिष्टानाम्।* प्रचेताओं ने अपने आपको सामान्य मनुष्य करके बताया है। *किम् अन्यदनुकम्पितम्।* भक्तों पर भगवान् की सदैव कृपा रहती है। भगवान् न केवल बद्धजीवों पर कृपा करते हैं, अपितु भक्तों पर भी करते हैं, जो अपनी भक्ति के कारण पहले से ही मुक्त हुए रहते हैं।

मन्दिरों में भगवान् के जिस रूप की पूजा की जाती है, वह *अर्चा-विग्रह* या *अर्चावतार* कहलाता है। यह सुविधा नवदीक्षित भक्तों को दी जाती है, जिससे वे भगवान् के असली रूप का साक्षात् दर्शन कर सकें, अर्चा के रूप में सादर नमस्कार कर सकें तथा यज्ञ कर सकें। ऐसी सुविधाओं से नवदीक्षित धीरे-धीरे अपनी मूल कृष्णचेतना का आवाहन करते हैं। नवदीक्षितों के लिए मन्दिरों में *अर्चा-विग्रह* की पूजा भगवान् का सबसे मूल्यवान वरदान है। फलतः सभी नवदीक्षितों को अपने घर अथवा मन्दिर में *अर्चा-विग्रह* (*अर्चावतार*) रखकर भगवान् की पूजा करनी चाहिए।

एतावत्त्वं हि विभुभिर्भाव्यं दीनेषु वत्सलैः ।
यदनुस्मर्यते काले स्वबुद्ध्याभद्ररन्ध्रन ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

एतावत्—इस प्रकार; त्वम्—तुम; हि—निश्चय ही; विभुभिः—अंशों के द्वारा; भाव्यम्—समझाने के लिए; दीनेषु—दीन भक्तों के; वत्सलैः—दयालु; यत्—जो; अनुस्मर्यते—स्मरण किया जाता है; काले—समय के आने पर; स्व-बुद्ध्या—अपनी भक्ति से; अभद्र-रन्ध्र—हे समस्त अमंगल के विनाशकर्ता, अमंगलहारी।

हे भगवान्, आप समस्त अमंगल के विनाशकर्ता हैं। आप अपने अर्चा-विग्रह विस्तार के द्वारा अपने दीन भक्तों पर दया करने वाले हैं। आप हम सबों को अपना शाश्वत दास समझें।

तात्पर्य : अर्चाविग्रह नामक भगवान् का स्वरूप उनकी अनन्त शक्तियों का विस्तार है। जब भगवान् भक्त की सेवा से धीरे-धीरे संतुष्ट हो जाते हैं, तो समय आने पर वे भक्त को अपने शुद्ध दास के रूप में अपना लेते हैं। स्वभाव से भगवान् परम दयालु हैं, अतः वे नवदीक्षित भक्तों की सेवा स्वीकार करते हैं जिसकी पुष्टि भगवद्गीता (९.२६) में हुई है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।

तदहं भक्त्युपहतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥

“यदि कोई मुझे भक्ति एवं प्रेमपूर्वक एक पत्ता, एक फूल, फल या जल भी अर्पित करता है, तो मैं उसे स्वीकार करता हूँ।” भक्तजन अर्चाविग्रह पर खाद्य पदार्थ चढ़ाते हैं, जो शाक, फल, पत्तियाँ तथा जल के रूप में होते हैं। भक्तवत्सल होने के कारण भगवान् इन भेंटों को स्वीकार करते हैं। नास्तिक लोग यह सोचते हैं कि भक्तजन मूर्तिपूजा में लगे हैं, किन्तु वास्तविकता इससे भिन्न होती है। जनार्दन भगवान् तो भाव अर्थात् सेवा की प्रवृत्ति को ग्रहण कहते हैं। नवदीक्षित भक्त भगवान् की ऐसी पूजा का महत्त्व भले ही न समझें, किन्तु भक्तवत्सल भगवान् अपने भक्तों को अपनाकर यथासमय उन्हें अपने धाम ले जाते हैं।

इस सम्बन्ध में एक ब्राह्मण की कहानी है, जो अपने मन में भगवान् को खीर चढ़ाया करता था। उस ब्राह्मण के पास न तो धन था, न अर्चाविग्रह की पूजा करने का कोई साधन था, किन्तु उसने अपने मन में इन सबकी सुन्दर व्यवस्था कर ली थी। अर्चाविग्रह को स्नान कराने के लिए पवित्र नदियों से जल लाने के लिए उसके पास सुनहरे पात्र थे, वह अर्चाविग्रह को खीर सहित अत्यन्त उत्तम भोजन चढ़ाता था। एक बार जब वह खीर चढ़ा रहा था, तो उसे लगा कि वह बहुत अधिक गरम है, अतः उसने सोचा कि क्यों न चख कर देख लूँ कि कहीं अधिक गरम तो नहीं है। जब उसने खीर चखने के लिए अपनी अँगुली खीर में डाली तो वह जल गई। इससे उसका ध्यान टूट गया। यद्यपि वह मन से प्रसाद चढ़ा रहा था, किन्तु फिर भी भगवान् ने उसे स्वीकार कर लिया था। फलतः भगवान् ने उस

ब्राह्मण को अपने धाम लाने के लिए तुरन्त एक रथ भेज दिया। अतः प्रत्येक निष्ठावान् भक्त का कर्तव्य है कि वह घर में या मन्दिर में अर्चाविग्रह को माने और प्रामाणिक शास्त्रों तथा गुरुसम्मत विधि से भगवान् के स्वरूप की पूजा करे।

येनोपशान्तिर्भूतानां क्षुल्लकानामपीहताम् ।
अन्तर्हितोऽन्तर्हृदये कस्मान्नो वेद नाशिषः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

येन—जिस विधि से; उपशान्तिः—समस्त इच्छाओं की संतुष्टि; भूतानाम्—जीवों की; क्षुल्लकानाम्—अत्यन्त पतितों की; अपि—यद्यपि; ईहताम्—अनेक वस्तुओं की कामना करते हुए; अन्तर्हितः—छिपे हुए; अन्तः—हृदये—हृदय के भीतर; कस्मात्—क्यों; नः—हमारे; वेद—जानता है; न—नहीं; आशिषः—इच्छाएँ।

जब भगवान् अपनी सहज दया से अपने भक्त के विषय में सोचते हैं, तो उस विधि से ही नवदीक्षित भक्तों की सारी इच्छाएँ पूर्ण होती हैं। जीव के अत्यन्त तुच्छ होने पर भी भगवान् प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित हैं। भगवान् जीव के सम्बन्ध में प्रत्येक बात, यहाँ तक कि उसकी समस्त इच्छाओं, को भी जानते रहते हैं। यद्यपि हम अत्यन्त तुच्छ जीव हैं फिर भी भगवान् हमारी इच्छाओं को क्यों नहीं जानेंगे?

तात्पर्य : सिद्ध भक्त अपने आपको सिद्ध नहीं मानता। वह सदा अत्यन्त विनीत होता है। भगवान् अपने परमात्मा रूप में प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित रहते हैं और अपने भक्तों के मनोभावों तथा इच्छाओं को समझ सकते हैं। वे अभक्तों को भी अपनी अपनी इच्छाएँ पूर्ण करने का अवसर प्रदान करते हैं जिसकी पुष्टि भगवद्गीता में हुई है (मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च)।

तुच्छ से तुच्छ जीव भी जो कुछ चाहता है, भगवान् उसको अंकित करते रहते हैं और उन इच्छाओं को पूरा करने के लिए उसे अवसर प्रदान करते हैं। यदि अभक्तों की इच्छाएँ पूर्ण हो सकती हैं, तो फिर भक्तों की क्यों नहीं होंगी? शुद्ध भक्त निष्काम भाव से भगवान् की सेवा करता है और यदि वह अपने अन्तस्तल से, जहाँ भगवान् का वास है, चाहता है और यदि वह किसी अन्य भाव से रहित है, तो भगवान् क्यों नहीं समझेंगे? यदि निष्ठावान् भक्त भगवान् या अर्चा-विग्रह की सेवा करता है, तो उसके सारे कार्य सफल हो जाते हैं, क्योंकि हृदय में स्थित भगवान् उसकी निष्ठा को समझ लेते हैं। इस प्रकार यदि भक्त पूर्ण विश्वास के साथ भक्ति सम्बन्धी सारे कार्य करता जाता है, तो अन्त में उसे सफलता प्राप्त होगी।

असावेव वरोऽस्माकमीप्सितो जगतः पते ।
प्रसन्नो भगवान्येषामपवर्गगुरुर्गतिः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

असौ—उस; एव—निश्चय ही; वरः—वर; अस्माकम्—हमारा; ईप्सितः—इच्छित; जगतः—ब्रह्माण्ड के; पते—हे स्वामी;
प्रसन्नः—प्रसन्न, तुष्ट; भगवान्—भगवान्; येषाम्—जिसके साथ; अपवर्ग—दिव्य प्रेमाभक्ति का; गुरुः—शिक्षक; गतिः—
जीवन का चरम लक्ष्य ।

हे जगत् के स्वामी, आप भक्तियोग के वास्तविक शिक्षक हैं। हमें सन्तोष है कि हमारे जीवन के परमलक्ष्य आप हैं और हम प्रार्थना करते हैं कि आप हम पर प्रसन्न हों। यही हमारा अभीष्ट वर है। हम आपकी पूर्ण प्रसन्नता के अतिरिक्त और कुछ भी कामना नहीं करते।

तात्पर्य : इस श्लोक के अपवर्ग गुरुर्गतिः शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। श्रीमद्भागवत के अनुसार (१.२.११) परमेश्वर ही परम सत्य का चरम तथ्य है—ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्दते। परम सत्य तीन प्रकार से अनुभव किया जाता है—निर्गुण ब्रह्म, अन्तर्यामी परमात्मा तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्। अपवर्ग का अर्थ “मोक्ष” है। पवर्ग का अर्थ है “भौतिक संसार।” इस संसार में मनुष्य सदैव कठोर श्रम करता है, किन्तु अन्त में निराश हो जाता है। तब उसकी मृत्यु हो जाती और पुनः कठोर श्रम करने के लिए उसे अन्य शरीर प्राप्त होता है। भौतिक संसार का यही चक्र है। अपवर्ग इसका विपरीत है। इसमें मनुष्य कुत्ते-बिल्लियों की तरह कठोर श्रम न करके भगवान् के धाम को वापस जाता है। मोक्ष का प्रारम्भ परमेश्वर के ब्रह्मतेज में मिल जाने से होता है। यह ज्ञानी सम्प्रदाय वालों का विचार है, किन्तु भगवान् का साक्षात्कार इससे बड़ी चीज है। जब भक्त समझता है कि भगवान् प्रसन्न हैं, तो मोक्ष अर्थात् ब्रह्मतेज में मिलना कठिन नहीं होता। जिस प्रकार सूर्यप्रकाश से सूर्य तक पहुँचा जाता है, उसी तरह मनुष्य को निर्गुण ब्रह्मतेज के माध्यम से भगवान् के पास पहुँचना होता है। यदि कोई भगवान् को प्रसन्न कर ले तो भगवान् के निर्गुण तेज में मिल जाना कठिन नहीं रह जाता।

वरं वृणीमहेऽथापि नाथ त्वत्परतः परात् ।
न ह्यन्तस्त्वद्विभूतीनां सोऽनन्त इति गीयसे ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

वरम्—वर; वृणीमहे—माँगेंगे; अथ अपि—अतः; नाथ—हे स्वामी; त्वत्—तुमसे (आपसे); परतः परात्—प्रकृति आदि से परे;
न—नहीं; हि—निश्चय ही; अन्तः—अन्त; त्वत्—तुम्हारे; विभूतीनाम्—ऐश्वर्य का; सः—वह (तुम); अनन्तः—अनन्त; इति—
इस प्रकार; गीयसे—विख्यात हो।

अतः हे स्वामी, हम आपसे वर देने के लिए प्रार्थना करेंगे, क्योंकि आप समस्त दिव्य प्रकृति से परे हैं और आपके ऐश्वर्यों का कोई अन्त नहीं है। अतः आप अनन्त नाम से विख्यात हैं।

तात्पर्य : प्रचेताओं को भगवान् से कोई वर माँगने की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि भक्तजन तो भगवान् की उपस्थिति मात्र से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। ध्रुव महाराज ने भगवान् का दर्शन करने के लिए कठिन तपस्या की थी और वे भगवान् से वर प्राप्त करना चाहते थे। वे अपने पिता का सिंहासन—या उससे भी श्रेष्ठतर पद—प्राप्त करना चाहते थे, किन्तु जब भगवान् उनके समक्ष उपस्थित हुए तो वे सब कुछ भूल गये। उन्होंने यही कहा, “हे स्वामी, मैं आपसे कोई वर नहीं चाहता।” भक्त की यही वास्तविक स्थिति होती है। भक्त तो भगवान् के समक्ष रहना चाहता है—चाहे इस लोक में हो या अन्यत्र—और उनकी सेवा में लगे रहना चाहता है। भक्तों के लिए यही चरम लक्ष्य तथा वर है।

भगवान् ने प्रचेताओं से वर माँगने के लिए कहा था, अतः उन्होंने कहा, “हम कौन सा वर माँगें? भगवान् अनन्त हैं, अतः वर भी अनन्त हैं।” तात्पर्य यह कि यदि कोई वर माँगता है, तो उसे अनन्त वर माँगने चाहिए। इस श्लोक के त्वत् परतः शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। भगवान् तो परतः परात् हैं। पर शब्द का अर्थ है—इस भौतिक जगत से परे अर्थात् दिव्य। निर्विशेष ब्रह्मतेज इस जगत से परे है और इसे परं पद कहा जाता है। आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदम् (भागवत १०.२.३२)। भगवान् के निर्विशेष तेज में मिल जाना परं पदम् कहलाता है, किन्तु इससे भी उच्च दिव्य पद होता है, वह है भगवान् की संगति। ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते (भागवत १.२.११)। परम सत्य का बोध पहले निर्विशेष ब्रह्म, फिर परमात्मा तथा अन्त में भगवान् के रूप में होता है। इस तरह भगवान् परतः परात् हैं, अर्थात् ब्रह्म तथा परमात्मा के साक्षात्कार से ऊपर हैं। इस प्रसंग में जीव गोस्वामी इंगित करते हैं कि परतः परात् का अर्थ है “सर्वश्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ।” सर्वश्रेष्ठ तो आध्यात्मिक जगत है और यह ब्रह्म कहलाता है। किन्तु भगवान् तो परब्रह्म कहलाते हैं, अतः परतः परात् का अर्थ है “ब्रह्म-साक्षात्कार से श्रेष्ठ।”

जैसाकि अगले श्लोकों में बताया गया है, प्रचेताओं की योजना कुछ ऐसी माँग प्रस्तुत करने की थी जो अनन्त हो। भगवान् की लीलाएँ, गुण, रूप तथा नाम सभी अनन्त हैं। इन सबका कोई अन्त नहीं है। किन्तु यदि सारे जीव परमेश्वर की अनन्त शक्तियों को सुनने में लग जाँय तो वे अनन्त से सीधे जुड़ जाते हैं। श्रवण तथा कीर्तन के द्वारा अनन्त का ऐसा ज्ञान अनन्त बन जाता है।

पारिजातेऽञ्जसा लब्धे सारङ्गोऽन्यत्र सेवते ।
त्वदङ्घ्रिमूलमासाद्य साक्षात्किं वृणीमहि ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

पारिजाते—पारिजात नामक नैसर्गिक वृक्ष; अञ्जसा—पूर्णातया; लब्धे—प्राप्त करके; सारङ्गः—भौरा; अन्यत्—अन्यत्र; न सेवते—सेवन नहीं करता; त्वत्-अङ्घ्रि—तुम्हारे चरणकमल; मूलम्—प्रत्येक वस्तु के मूलाधार तक; आसाद्य—पहुँच कर; साक्षात्—प्रत्यक्ष; किम्—क्या; किम्—क्या; वृणीमहि—माँगें ।

हे स्वामी, जब भौरा दिव्य पारिजात वृक्ष के निकट पहुँच जाता है, तो वह उसे कभी नहीं छोड़ता क्योंकि उसे ऐसा करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। इसी प्रकार जब हमने आपके चरणकमलों की शरण ग्रहण की है, तो हमें और क्या वर माँगने की आवश्यकता है?

तात्पर्य : जब भक्त भगवान् के चरणकमलों की सेवा में वास्तव में लगा हो तो उसे अन्य कोई वर माँगने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि उसकी व्यस्तता अपने में पूर्ण होती है। जब भौरा पारिजात वृक्ष के निकट आ जाता है, तो उसे असीमित मात्रा में मधु प्राप्त हो जाता है। उसे दूसरे वृक्ष पर जाने की आवश्यकता नहीं रह जाती। यदि कोई भगवान् के चरणकमलों की सेवा में स्थिर हो चुका है, तो उसे अनन्त आनन्द प्राप्त होता है, अतः उसे और कोई वर माँगने की आवश्यकता नहीं रह जाती। पारिजात वृक्ष इस संसार में साधारण रूप में प्राप्य नहीं है। पारिजात वृक्ष का दूसरा नाम कल्पवृक्ष या मनोरथ पूर्ण करने वाला वृक्ष है। ऐसे वृक्ष से मुँहमाँगा वर प्राप्त किया जा सकता है। इस संसार में यदि नारंगी चाहिए तो वह नारंगी वृक्ष से मिलेगी और आम के वृक्ष से आम मिलेंगे, किन्तु न तो आम के वृक्ष से नारंगी मिल सकती है न नारंगी के वृक्ष से आम। किन्तु पारिजात वृक्ष से जो चाहो सो मिल सकता है—चाहे नारंगी लो, चाहे आम या केला आदि। यह वृक्ष वैकुण्ठलोक में पाया जाता है। *चिन्तामणि प्रकरसद्गसु कल्पवृक्षलक्षावृतेषु।* वैकुण्ठलोक, जिसे चिन्तामणि धाम कहते हैं, ऐसे कल्पवृक्षों से घिरा है, किन्तु पारिजात वृक्ष इन्द्रलोक में भी प्राप्य है। इस पारिजात वृक्ष को श्रीकृष्ण अपनी रानी सत्यभामा को प्रसन्न करने के लिए लाये थे और इसे रानियों के लिए बने द्वारका के महलों में रोप दिया गया था। भगवान् के चरणकमल भी पारिजात रानियों के लिए निर्मित वृक्ष के सदृश हैं और भक्तगण भौरों के समान हैं। वे सदैव भगवान् के चरणकमलों में आसक्त रहते हैं।

यावत्ते मायया स्पृष्टा भ्रमाम इह कर्मभिः ।

तावद्भवत्प्रसङ्गानां सङ्गः स्यान्नो भवे भवे ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

यावत्—जब तक; ते—तुम्हारी (आपकी); मायया—माया से; स्पृष्टाः—दूषित; भ्रमामः—हम घूमते हैं; इह—इस संसार में; कर्मभिः—कर्मों के कारण; तावत्—तब तक; भवत्-प्रसङ्गानाम्—आपके प्रेमी भक्तों की; सङ्गः—संगति; स्यात्—हो; नः—हमारी; भवे भवे—प्रत्येक योनि में।

हे स्वामी, हमारी प्रार्थना है कि जब तक हम अपने सांसारिक कल्मष के कारण इस संसार में रहें और एक शरीर से दूसरे में तथा एक लोक से दूसरे लोक में घूमते रहें, तब तक हम उनकी संगति में रहें जो आपकी लीलाओं की चर्चा करने में लगे रहते हैं। हम जन्म-जन्मांतर विभिन्न शारीरिक रूपों में और विभिन्न लोको में इसी वर के लिए प्रार्थना करते हैं।

तात्पर्य : यह सर्वश्रेष्ठ वर है, जिसे भक्त भगवान् से माँग सकता है। चैतन्य महाप्रभु के द्वारा भी हुई है : स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभिः (भागवत १०.१४.३)। भाग्य के अनुसार मनुष्य किसी एक स्थिति में हो या दूसरी में, प्रत्येक दशा में उसे भगवान् के कार्यकलापों तथा लीलाओं का श्रवण करते रहना चाहिए। शुद्ध भक्त कभी अपनी मुक्ति या आवागमन के चक्र से बचने की प्रार्थना नहीं करता, क्योंकि उसकी दृष्टि में इनका महत्त्व नहीं होता। भक्त के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण बात होती है भगवान् की लीलाओं तथा गुणों के सम्बन्ध में श्रवण करने का अवसर पाना। जो लोग इस संसार में भगवद्भक्ति करते हैं उन्हें वैकुण्ठ में भी यही सुअवसर प्राप्त होगा। इस प्रकार भक्त के लिए वैकुण्ठ में सब कुछ है क्योंकि जब तक वह भगवान् की लीलाओं का श्रवण कर सकता है अथवा जहाँ भी वह कीर्तन कर सकता है, वहाँ भगवान् उपस्थित रहते हैं। तत्र तिष्ठामि नारद यत्र गायन्ति मद्भक्ताः। जब शुद्ध भक्त मिलकर भगवान् के विषय में कीर्तन, श्रवण या कथन करते हैं, तो वह स्थान, जहाँ वे एकत्रित होते हैं, वैकुण्ठ बन जाता है। भक्त को वैकुण्ठ जाने के लिए भगवान् से प्रार्थना करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। शुद्ध भक्त कहीं भी भगवान् के गुणों का केवल निरपराध भाव से जप करके वैकुण्ठ या वृन्दावन बना सकता है।

प्रत्येक जीवन (भवे भवे) में भगवान् के गुणों का गान सुनने का अवसर प्राप्त हो, इसके लिए प्रचेतागण भगवान् से प्रार्थना कर रहे हैं। जीव एक देह से दूसरे में देहान्तरण करता है। भक्त इस क्रिया को बन्द करने के पक्ष में नहीं हैं। चैतन्य महाप्रभु प्रार्थना करते हैं—मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद् भक्तिरहेतुकी त्वयि—हे भगवान्, मैं जन्म-जन्मांतर आपकी शुद्ध भक्ति में स्थिर रहूँ। विनयवश भक्त

अपने आपको वैकुण्ठ जाने के अयोग्य समझता है। वह अपने को सदैव प्रकृति के गुणों से मलीन समझता है। भक्त को इन गुणों से भी मुक्त होने के लिए प्रार्थना करने की आवश्यकता नहीं रहती। भक्ति स्वयं दिव्य पद है, अतः इस विशिष्ट सुविधा की याचना करना व्यर्थ है। निष्कर्ष यह निकला कि शुद्ध भक्त जन्म-मृत्यु के चक्र को रोकने के लिए उत्सुक नहीं रहता, वह तो उन भक्तों की संगति करने के लिए उत्सुक रहता है, जो भगवान् के कीर्तन तथा उनके गुणों के श्रवण में लगे हुए हैं।

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।

भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

तुलयाम—तुलना करते हैं; लवेन—क्षण (लव) से; अपि—भी; न—नहीं; स्वर्गम्—स्वर्ग लोक की प्राप्ति; न—नहीं; अपुनः—भवम्—ब्रह्मतेज में मिलने के लिए; भगवत्—भगवान् का; सङ्गि—पार्श्वों से; सङ्गस्य—संगति का; मर्त्यानाम्—मनुष्यों का, जो मरणशील हैं; किम् उत—क्या कम है; आशिषः—आशीर्वाद, वर।

एक क्षण की भी शुद्ध भक्त की संगति के सामने स्वर्गलोक जाने अथवा पूर्ण मोक्ष पा कर ब्रह्मतेज में मिलने (कैवल्य) की कोई तुलना नहीं की जा सकती है। शरीर को त्याग कर मरने वाले जीवों के लिए सर्वश्रेष्ठ वर तो शुद्ध भक्तों की संगति है।

तात्पर्य : भगवान् चैतन्य के एक परम भक्त सन्त प्रबोधानन्द सरस्वती ने कहा है—*कैवल्यं नरकायते त्रिदशपूर आकाशपुष्पायते।* शुद्ध भक्त के लिए ब्रह्मतेज में मिलने अथवा कैवल्य का सुख नरक में रहने के समान है। इसी प्रकार स्वर्गलोक (त्रिदशपूर) को जाना अन्य प्रकार का मायाजाल है। दूसरे शब्दों में, शुद्ध भक्त कर्मियों के लक्ष्य (स्वर्ग) अथवा ज्ञानियों के लक्ष्य (कैवल्य) को महत्त्व प्रदान नहीं करता। वह तो अन्य शुद्ध भक्त के साथ क्षण भर की भी संगति को स्वर्ग या कैवल्य से कहीं अधिक महत्त्व देता है। इस संसार में रहने वाले तथा जन्म-मृत्यु के चक्र में पड़े जीवों के लिए सर्वश्रेष्ठ वर शुद्ध भक्तों की संगति है। मनुष्य को चाहिए कि ऐसे शुद्ध भक्तों को खोज कर उनके साथ रहे। इससे इस भौतिक जगत में रहते हुए भी पूर्ण सुख प्राप्त किया जा सकता है। इसी उद्देश्य से यह कृष्णभावनामृत-आन्दोलन प्रारम्भ किया गया है। अत्यधिक भौतिकता में ग्रस्त मनुष्य इस आन्दोलन से लाभ उठा सकता है और इससे भलीभाँति सम्पर्क बढ़ा सकता है। इस तरह दिग्भ्रमित तथा हताश प्राणी भक्तों की संगति में परम सुख पा सकते हैं।

यत्रेड्यन्ते कथा मृष्टास्तृष्णायाः प्रशमो यतः ।
निर्वैरं यत्र भूतेषु नोद्वेगो यत्र कश्चन ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; ईड्यन्ते—पूजा की जाती है या चर्चा चलती है; कथाः—कथा; मृष्टाः—शुद्ध; तृष्णायाः—भौतिक इच्छाओं की; प्रशमः—तुष्टि; यतः—जिससे; निर्वैरम्—वैर का न होना; यत्र—जहाँ; भूतेषु—जीवों में; न—नहीं; उद्वेगः—भय; यत्र—जहाँ; कश्चन—किसी प्रकार का, कोई।

जब भी दिव्य लोक की कथाओं की चर्चा चलती है, श्रोतागण, भले ही क्षण-भर के लिए क्यों न हो, समस्त भौतिक तृष्णाएँ भूल जाते हैं। यही नहीं, आगे से वे एक दूसरे से न तो वैर करते हैं, न किसी कुण्ठा या भय से ग्रस्त होते हैं।

तात्पर्य : वैकुण्ठ का अर्थ है “कुण्ठा से रहित” और भौतिक जगत का अर्थ है कुण्ठा से पूर्ण। जैसाकि प्रह्लाद महाराज ने कहा है— *सदा समुद्विग्नधियामसद्ग्रहात्*। जिन जीवात्माओं ने इस जगत को अपना आवास बनाया है वे सदैव कुण्ठा से भरे रहते हैं। जब शुद्ध भक्तों के द्वारा भगवान् की पवित्र कथाएँ कही जाती हैं, तो कोई भी स्थान वैकुण्ठ बन जाता है। यह *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः* की विधि है, जिसमें भगवान् विष्णु के विषय में कीर्तन एवं श्रवण किया जाता है। भगवान् स्वयं इसकी पुष्टि करते हैं—

नाहं तिष्ठामि वैकुण्ठे योगिनां हृदयेषु वा ।

तत्र तिष्ठामि नारद यत्र गायन्ति मद्भक्ताः ॥

“हे नारद! न तो मैं अपने निवास वैकुण्ठ में रहता हूँ, न योगियों के हृदय में रहता हूँ। मैं तो उस स्थान में वास करता हूँ जहाँ मेरे भक्त मेरे पवित्र नाम का कीर्तन करते हैं और मेरे रूप, लीलाओं तथा गुणों की चर्चा चलाते हैं।” दिव्य उच्चारण में भगवान् की उपस्थिति के कारण वैकुण्ठलोक का वातावरण प्रबुद्ध होता है। यह वातावरण भय तथा कुण्ठा से मुक्त होता है। इसमें एक जीव दूसरे जीव से डरता नहीं। भगवान् के पवित्र नाम तथा गुणों के श्रवण से मनुष्य पुण्यकर्म करने लगता है। *शृण्वतां स्वकथाः कृष्ण पुण्यश्रवणकीर्तनः* (*भागवत* १.२.१७)। इस प्रकार उसकी भौतिक तृष्णाएँ तुरन्त समाप्त हो जाती हैं। कृष्णभावनामृत-संघ द्वारा चलाया गया यह संकीर्तन-आन्दोलन वैकुण्ठलोक की सृष्टि करने के लिए है, जहाँ कोई कुण्ठा नहीं है। इसकी विधि है *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः* द्वारा सारे संसार में प्रचार। भौतिक जगत में प्रत्येक व्यक्ति अपने संगी से द्वेष करता है। जब तक मानव-समाज में हरे कृष्ण महामंत्र—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—का

संकीर्तन यज्ञ नहीं होता तब तक उसमें पाशविक विद्वेष बना रहता है। फलतः प्रचेताओं ने सदैव भक्तों के समाज में रहने का निश्चय किया और इसे ही मानव-जीवन का सर्वश्रेष्ठ वर माना।

यत्र नारायणः साक्षाद्भगवात्र्यासिनां गतिः ।

संस्तूयते सत्कथासु मुक्तसङ्गैः पुनः पुनः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; नारायणः—भगवान् नारायण; साक्षात्—प्रत्यक्ष; भगवान्—भगवान्; न्यासिनाम्—संन्यासियों का; गतिः—परम लक्ष्य; संस्तूयते—पूजा की जाती है; सत्-कथासु—अच्छे अच्छे कथा प्रसंगों द्वारा; मुक्त-सङ्गैः—भव कल्मष से मुक्त व्यक्तियों द्वारा; पुनः पुनः—बारम्बार।

जहाँ भक्तों के बीच भगवान् के पवित्र नाम का श्रवण तथा कीर्तन चलता रहता है, वहाँ भगवान् नारायण उपस्थित रहते हैं। संन्यासियों के चरम लक्ष्य भगवान् नारायण ही हैं और नारायण की पूजा उन व्यक्तियों द्वारा इस संकीर्तन आन्दोलन के माध्यम से की जाती है, जो भौतिक कल्मष से मुक्त हो चुके हैं। वे बारम्बार भगवान् के पवित्र नाम का उच्चारण करते हैं।

तात्पर्य : मायावादी संन्यासी नारायण की वास्तविक उपस्थिति से वंचित रह जाते हैं। इसका कारण यह है कि वे झूठे ही अपने को साक्षात् नारायण कहते हैं। मायावादी संन्यासियों में एक दूसरे को नारायण कहने का शिष्टाचार है। यह कहना कि प्रत्येक प्राणी नारायण का मन्दिर है सही है, किन्तु अन्य किसी मनुष्य को नारायण मानना महान् अपराध है। दरिद्रनारायण (निर्धन नारायण) की संकल्पना भी एक महान् अपराध है, क्योंकि इसमें निर्धन को नारायण स्वरूप मानने का प्रयास किया जाता है। यहाँ तक कि ब्रह्मा तथा शिव जैसे देवताओं के साथ नारायण की समता करना अपराध है।

यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मारुद्रादि दैवतैः ।

समत्वेनैव वीक्षेत स पाषण्डी भवेद्ध्रुवम् ॥

“जो भगवान् नारायण को ब्रह्मा तथा शिव जैसे बड़े-बड़े देवताओं के समान मानता है उसे पाषण्डी कोटि में गिना जाता है।” तथ्य तो यह है कि यज्ञ संकीर्तन द्वारा भगवान् को तुरन्त प्रसन्न किया जा सकता है। तब नारायण स्वयं अवतरित होकर वहाँ उपस्थित होते हैं। इस कलियुग में चैतन्य महाप्रभु के रूप में भगवान् तुरन्त ही उपस्थित हो जाते हैं। श्रीमद्भागवत (११.५.३२) में भगवान् चैतन्य महाप्रभु के विषय में कहा गया है—

कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम् ।

यज्ञैः संकीर्तनप्रार्थैर्यजन्ति हि सुमेधसः ॥

“कलियुग में बुद्धिमान पुरुष कृष्ण-नाम का निरन्तर गायन करने वाले ईश्वर के अवतार की पूजा करने के लिए सामूहिक कीर्तन करते हैं। यद्यपि उनका रंग श्याम नहीं है, किन्तु वे साक्षात् कृष्ण हैं। उनके साथ उनके पार्षद, सेवक, आयुध तथा विश्वस्त संगी रहते हैं।” आखिर, यह मनुष्य जीवन नारायण को प्रसन्न करने के लिए ही मिला है और संकीर्तन यज्ञ द्वारा इसकी पूर्ति की जा सकती है। जब भी भगवान् के पवित्र नाम का सामूहिक कीर्तन होता है, भगवान् गौर नारायण अपने भगवान् चैतन्य रूप में तुरन्त प्रकट होते हैं और संकीर्तन यज्ञ द्वारा पूजे जाते हैं।

इस श्लोक में कहा गया है कि *न्यासिनां गतिः* अर्थात् नारायण संन्यासियों के चरम लक्ष्य हैं। जिन व्यक्तियों ने संसार का परित्याग कर दिया है उनका लक्ष्य नारायण की प्राप्ति है। अतः वैष्णव संन्यासी नारायण की सेवा में अपना जीवन समर्पित करता हैं, इसलिए वैष्णव संन्यासी अपना जीवन नारायण की सेवा हेतु अर्पण कर देता है और झूठे ही स्वयं के नारायण होने का दावा नहीं करता। जो नारायण बनने का प्रयत्न करता है, वह तुरन्त निर्वैर होने के बजाय भगवान् से वैर रखने लगता है। इसलिए नारायण बनने का प्रयत्न करना सबसे बड़ा अपराध है। वास्तव में जब कोई व्यक्ति भगवान् के दिव्य कार्यकलापों का कीर्तन करता है या चर्चा करता है, तो वह निर्वैर बन जाता है। इस संसार में हर व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से वैर रखता है, किन्तु भगवान् का नाम उच्चारण करने अथवा नाम की चर्चा चलाने से वह समस्त भौतिक तृष्णाओं से रहित तथा निर्वैर हो जाता है। भगवान् से ईर्ष्या (वैर) करने के कारण हम अन्य सभी जीवों से वैर रखने लगे हैं। जब हम भगवान् से वैर रखना छोड़ देंगे तो मानव समाज में वास्तविक शान्ति, एकता तथा बन्धुत्व आएगा। नारायण अथवा संकीर्तन यज्ञ के बिना इस संसार में शान्ति नहीं आ सकती।

तेषां विचरतां पद्भ्यां तीर्थानां पावनेच्छया ।

भीतस्य किं न रोचेत तावकानां समागमः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

तेषाम्—उनका; विचरताम्—विचरण करने वालों का; पद्भ्याम्—अपने पाँवों से; तीर्थानाम्—पवित्र स्थानों का; पावन-इच्छया—पवित्र करने की इच्छा से; भीतस्य—डरे हुए संसारी पुरुष का; किम्—क्यों; न—नहीं; रोचेत—अच्छा लगता है; तावकानाम्—आपके भक्तों की; समागमः—भेंट।

हे भगवन्, आपके पार्षद तथा भक्त संसार-भर में तीर्थस्थानों तक को पवित्र करने के लिए

भ्रमण करते रहते हैं। जो इस संसार से भयभीत हैं, क्या ऐसा कार्य इन सबके लिए रुचिकर नहीं होता?

तात्पर्य : भक्त दो प्रकार के होते हैं— *गोष्ठानन्दी* तथा *भजनानन्दी*। *भजनानन्दी* एक ही स्थान पर रहते हैं, वे कहीं जाते नहीं। ऐसे भक्त सदैव भगवान् की भक्ति में लगे रहते हैं। वे आचार्यों द्वारा बताये गये महामंत्र का जप करते हैं और कभी-कभी उपदेश देने बाहर जाते हैं। *गोष्ठानन्दी* भक्त वे हैं, जो संसार भर में भक्तों की संख्या बढ़ाने के इच्छुक रहते हैं। वे सारे संसार तथा उसमें निवास करने वाले व्यक्तियों को शुद्ध करने के लिए विचरण करते रहते हैं। चैतन्य महाप्रभु का आदेश है—

पृथिवीते आछे यत नगरादि ग्राम।

सर्वत्र प्रचार हैबे मोर नाम ॥

चैतन्य महाप्रभु चाहते थे कि उनके अनुयायी संसार-भर में प्रत्येक नगर तथा ग्राम में प्रचार के लिए जाँय। चैतन्य-सम्प्रदाय के जो लोग भगवान् चैतन्य के सिद्धान्तों का दृढ़ता से पालन करते हैं उन्हें भगवान् चैतन्य के सन्देश को, जो श्रीकृष्ण के वचन— *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत*—ही है, विश्व-भर में प्रचार करने के लिए भ्रमण करना होता है। भक्तगण जितना ही कृष्णकथा के सिद्धान्तों का उपदेश करेंगे, उतना ही संसार-भर के लोग लाभान्वित होंगे।

नारद मुनि जैसे भक्त, जो प्रचारार्थ सर्वत्र घूमते हैं, *गोष्ठानन्दी* कहलाते हैं। नारद मुनि ब्रह्माण्ड-भर में विभिन्न प्रकार के भक्त उत्पन्न करने के लिए सदैव विचरण करते रहते हैं। नारद मुनि ने तो बहेलिये तक को भक्त बना लिया था। उन्होंने ध्रुव तथा प्रह्लाद को भी भक्त बनाया। वस्तुतः सारे भक्त नारद मुनि के ऋणी हैं, क्योंकि वे स्वर्ग तथा नरक दोनों में विचरण कर चुके थे। भगवद्भक्त नरक से भी नहीं डरता। वह सर्वत्र, यहाँ तक कि नरक में भी, भगवान् की महिमा का प्रचार करने के लिए जाता है क्योंकि भक्त की दृष्टि में स्वर्ग तथा नरक में कोई अन्तर नहीं रहता।

नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति।

स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः ॥

“नारायण का शुद्ध भक्त कहीं भी जाने से डरता नहीं। उसके लिए स्वर्ग तथा नरक समान हैं।” (*भागवत* ६.१७.२८)। ऐसे भक्त सर्वत्र घूम कर इस भौतिक संसार से डरने वालों का उद्धार करते रहते

हैं। कुछ लोग भौतिक भोगों से हताश तथा दिग्भ्रमित होने के कारण पहले से ही इस संसार से ऊबे हैं और कुछ लोग, जो बुद्धिमान हैं, परमेश्वर को जानने में रुचि रखते हैं। ये दोनों ही तरह के लोग संसार-भर में विचरण करने वाले शुद्ध भक्त से लाभ उठा सकते हैं।

जब कोई शुद्ध भक्त किसी तीर्थस्थान में जाता है, तो उसके मन में उसे शुद्ध करने की अभिलाषा होती है। अनेक पापी तीर्थस्थानों में स्नान करते हैं। वे गंगा तथा यमुना नदियों के जल में प्रयाग, वृन्दावन तथा मथुरा जैसे स्थानों में स्नान करते हैं। इस प्रकार पापी मनुष्य शुद्ध होते हैं, किन्तु उनके पापपूर्ण कर्म तथा उनके फल तीर्थस्थानों में रह जाते हैं। अतः जब कोई भक्त ऐसे तीर्थस्थानों में स्नान करने आता है, तो पापियों द्वारा छोड़े हुए पापपूर्ण कर्मफलों का निराकरण हो जाता है। *तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता* (भागवत १.१३.१०)। चूँकि भक्त के हृदय में सदैव भगवान् विराजमान रहते हैं, अतः वह जिस किसी स्थान में जाता है, वह तीर्थस्थान बन जाता है, जो कि भगवान् को समझने का पवित्र स्थान होता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है कि वह शुद्ध भक्त की संगति करे और भव-कल्मष से छुटकारा पा ले। प्रत्येक व्यक्ति को विचरण करने वाले भक्तों से लाभ उठाना चाहिए, क्योंकि इन भक्तों का एकमात्र कार्य बद्धजीवों को माया के चंगुल से छुड़ाना है।

वयं तु साक्षाद्भगवन्भवस्य

प्रियस्य सख्युः क्षणसङ्गमेन ।

सुदुश्चिकित्स्यस्य भवस्य मृत्योर्

भिषक्तमं त्वाद्य गतिं गताः स्म ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

वयम्—हम; तु—तब; साक्षात्—प्रत्यक्ष; भगवन्—हे स्वामी; भवस्य—शिवजी की; प्रियस्य—अत्यन्त प्रिय; सख्युः—आपके मित्र; क्षण—क्षण भर के; सङ्गमेन—संगति से; सुदुश्चिकित्स्यस्य—जिसका उपचार कर पाना अत्यन्त दुष्कर है; भवस्य—भौतिक अस्तित्व का; मृत्योः—मृत्यु का; भिषक्—तमम्—सर्वश्रेष्ठ वैद्य; त्वा—तुम; अद्य—आज; गतिम्—लक्ष्य; गताः—प्राप्त कर लिया; स्म—निश्चय ही।

हे भगवन्, हम भाग्यशाली हैं कि आपके अत्यन्त प्रिय तथा अभिन्न मित्र शिवजी की क्षणमात्र की संगति से हम आपको प्राप्त कर सके हैं। आप इस संसार के असाध्य रोग का उपचार करने में समर्थ सर्वश्रेष्ठ वैद्य हैं। हमारा सौभाग्य था कि हमें आपके चरणकमलों का आश्रय प्राप्त हो सका।

तात्पर्य : यह कहा गया है—हरिं विना न सृतिं तरन्ति। भगवान् के चरणकमलों का आश्रय लिये

बिना माया, जन्म की पुनरावृत्ति, जरा, रोग तथा मृत्यु के चंगुल से नहीं बचा जा सकता। प्रचेताओं को शिवजी की कृपा से भगवान् की शरण प्राप्त हो सकी। शिवजी भगवान् विष्णु के परम भक्त हैं—
वैष्णवानां यथा शम्भुः—शिवजी सर्वश्रेष्ठ वैष्णव हैं और जो लोग शिवजी के असली भक्त हैं, वे शिवजी के उपदेशों का पालन करते हैं और भगवान् विष्णु के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर लेते हैं। किन्तु शिवजी के तथाकथित भक्त, जो भौतिक सम्पन्नता के पीछे पड़े रहते हैं, धोखा खाते हैं। उन्हें शिवजी वास्तव में धोखा नहीं देते क्योंकि उन्हें लोगों को धोखा देने में कोई सरोकार नहीं है, किन्तु शिवजी के तथाकथित भक्त चाहते हैं कि उन्हें धोखा दिया जाये, अतः आशुतोष शिवजी उन्हें सभी प्रकार के भौतिक वर देते रहते हैं। ये वर विडम्बना स्वरूप तथाकथित भक्तों का विनाश का कारण बन सकते हैं। उदाहरणार्थ, रावण ने शिवजी से समस्त भौतिक वर प्राप्त कर लिये थे, किन्तु परिणाम यह हुआ कि वह अपने परिवार, राज्य तथा सर्वस्व सहित विनष्ट हो गया, क्योंकि उसने शिवजी के वर का दुरुपयोग किया। अपनी भौतिक शक्ति के कारण वह इतना अहंकारी और घमण्डी हो गया कि उसने भगवान् रामचन्द्र की पत्नी का अपहरण करने का दुस्साहस किया। इस प्रकार से वह विनष्ट हो गया। शिवजी से वर प्राप्त करना कठिन नहीं है, किन्तु वे वास्तविक वर नहीं होते। प्रचेताओं ने शिवजी से भौतिक वर प्राप्त करके भगवान् विष्णु के चरणकमलों की शरण ली। यह वास्तविक वर है। गोपियों ने भी वृन्दावन में शिवजी की पूजा की और आज भी गोपीश्वर रूप में भगवान् वहाँ हैं। किन्तु गोपियों ने शिवजी से प्रार्थना की कि वे भगवान् कृष्ण को उनका पति होने का आशीर्वाद दें। यदि किसी का उद्देश्य भगवद्धाम को वापस जाना है, तो देवताओं की पूजा करने में कोई हानि नहीं है। साधारण लोग तथा भौतिक लाभ की दृष्टि से देवताओं के पास जाते हैं जिसका संकेत *भगवद्गीता* (७.२०) में मिलता है—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।

तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥

“जिनके मन भौतिक इच्छाओं से विकृत हो चुके हैं, वे देवताओं की शरण ग्रहण करते हैं और अपने मन के अनुसार पूजा के विधि-विधानों का पालन करते हैं।” भौतिक लाभों के पीछे पड़ा व्यक्ति हतज्ञान (जिसकी बुद्धि नष्ट हो गई है) कहलाता है। इस सम्बन्ध में ध्यान देने की बात है कि शास्त्रों में

कभी-कभी शिवजी को भगवान् से अभिन्न बताया जाता है। बात यह है कि शिवजी तथा भगवान् विष्णु परस्पर इतने घुले-मिले हुए हैं कि उनकी विचारधारा में कोई अन्तर नहीं रहता। वास्तविकता तो यह है कि एकले ईश्वर कृष्ण, आर सब भृत्य—कृष्ण ही एकमात्र ईश्वर हैं, अन्य सब उनके दास या भक्त हैं (श्रीचैतन्यचरितामृत, आदि ५.१४२)। यह सत्य है कि इस विषय में शिवजी तथा भगवान् विष्णु में कोई अन्तर नहीं हैं। शास्त्रों में कहीं भी शिवजी अपने को भगवान् विष्णु के समान होने का दावा नहीं करते। यह तो शिवजी के तथाकथित भक्तों की करामात है, जो दावा करते हैं कि शिव तथा विष्णु एक हैं। वैष्णव तन्त्र में इसका सर्वथा निषेध हुआ है— यस्तु नारायणं देवम्। भगवान् विष्णु, शिव तथा ब्रह्मा में स्वामी तथा दास का घनिष्ठ सम्बन्ध है। शिव-विरि-श्चि-नुतम् शिव तथा ब्रह्मा विष्णु को आदर देते हैं और नमस्कार करते हैं। उनको समान मानना महान् अपराध है। वे इस दृष्टि से सम हैं कि भगवान् विष्णु भगवान् हैं और अन्य सभी उनके शाश्वत दास हैं।

यन्नः स्वधीतं गुरवः प्रसादिता

विप्राश्च वृद्धाश्च सदानुवृत्त्या ।

आर्या नताः सुहृदो भ्रातरश्च

सर्वाणि भूतान्यनसूययैव ॥ ३९ ॥

यन्नः सुतप्तं तप एतदीश

निरन्धसां कालमदभ्रमप्सु ।

सर्वं तदेतत्पुरुषस्य भूमनो

वृणीमहे ते परितोषणाय ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; नः—हमारे द्वारा; स्वधीतम्—अध्ययन किया गया; गुरवः—श्रेष्ठ व्यक्ति, गुरुजन; प्रसादिताः—प्रसन्न होने पर; विप्राः—ब्राह्मण; च—तथा; वृद्धाः—वृद्धजन; च—तथा; सत्-आनुवृत्त्या—अपने सदाचरण से; आर्याः—श्रेष्ठजन; नताः—नमस्कार करने से; सु-हृदः—मित्रगण; भ्रातरः—भाई; च—तथा; सर्वाणि—समस्त; भूतानि—जीव; अनसूयया—द्वेषरहित; एव—निश्चय ही; यत्—जो; नः—हमारा; सु-तप्तम्—कठिन; तपः—तपस्या; एतत्—यह; ईश—हे भगवान्; निरन्धसाम्—निराहार; कालम्—समय तक; अदभ्रम्—दीर्घ; अप्सु—जल के भीतर; सर्वम्—सभी; तत्—उस; एतत्—इस; पुरुषस्य—भगवान् का; भूमनः—महान्; वृणीमहे—वर मागते हैं; ते—आपका; परितोषणाय—सन्तोष के लिए।

हे भगवन्, हमने वेदों का अध्ययन किया है, गुरु बनाया है और ब्राह्मणों, भक्तों तथा आध्यात्मिक दृष्टि से अत्यधिक उन्नत वरिष्ठ पुरुषों को सम्मान प्रदान किया है। हमने अपने किसी भी भाई, मित्र या अन्य किसी से ईर्ष्या नहीं की। हमने जल के भीतर रहकर कठिन तपस्या भी की है और दीर्घकाल तक भोजन नहीं ग्रहण किया। हमारी ये सारी आध्यात्मिक सम्पदाएँ

आपको प्रसन्न करने के लिए सादर समर्पित हैं। हम आपसे केवल यही वर माँगते हैं, अन्य कुछ भी नहीं।

तात्पर्य : जैसाकि श्रीमद्भागवत में कहा गया है—*संसिद्धिर्हरितोषणम्*—वास्तविक सिद्धि भगवान् को प्रसन्न करना है। *वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*—वेदों को समझने के लिए भगवान् को समझना होता है। जिसने उन्हें समझ लिया है, वह अनेकानेक जन्मों के बाद उनकी शरण ग्रहण करता है। हमें प्रचेताओं में ये सारे गुण मिल जाते हैं। उन्होंने जल के भीतर कठिन तपस्या की और दीर्घकाल तक निराहार रहे। उन्होंने यह तपस्या किसी भौतिक लाभ के लिए नहीं, अपितु भगवान् को प्रसन्न करने के लिए की थी। मनुष्य किसी भी प्रकार के—भौतिक या आध्यात्मिक—कार्य में लगा रह सकता है, किन्तु उद्देश्य होना चाहिए भगवान् को प्रसन्न रखना। यह श्लोक वैदिक सभ्यता का पूर्ण चित्र प्रस्तुत करता है। जो लोग भक्त बनने का अभ्यास कर रहे हों, उन्हें न केवल भगवान् के प्रति आभारी होना चाहिए, अपितु ज्ञान में जो वरिष्ठ हैं, जो आर्य हैं तथा भगवान् के वास्तविक भक्त हैं, उनका भी सम्मान करना चाहिए। आर्य वह है, जो गप्पें नहीं हाँकता वरन् भगवान् का वास्तविक भक्त है। *आर्य* का अर्थ है, “उन्नत या प्रगतिशील।” पूर्वकाल में जो लोग अपने को आर्य कहते थे, वे भगवान् के भक्त होते थे। उदाहरणार्थ, *भगवद्गीता* (२.२) में श्रीकृष्ण ने यह कह कर अर्जुन की भर्त्सना की कि वह अनार्य की तरह बोल रहा है—

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।

अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥

“भगवान् कृष्ण ने कहा, हे अर्जुन! संग्राम की इस विषम स्थिति में तुममें ये अशुद्धताएँ किस कारण से आ गई? ये तो उन मनुष्यों के योग्य नहीं हैं, जो जीवन की श्रेष्ठ गरिमा को जानते हैं। उच्च लोकों की प्राप्ति कराने वाले भी नहीं हैं, अपितु अपयश का कारण हैं।” अर्जुन क्षत्रिय होते हुए भी परमेश्वर द्वारा आदेशित होने पर लड़ने से इनकार कर रहा था। भगवान् ने उसे अनार्य वंश का कह कर उसकी भर्त्सना की। जो कोई भगवद्भक्ति में अग्रसर है, वह अवश्य ही अपना कर्तव्य जानता है, चाहे यह कर्तव्य हिंसात्मक या अहिंसात्मक हो। यदि यह भगवान् द्वारा स्वीकृत है और उनका आदेश है, तो

उसे अवश्य करना चाहिए। आर्य अपना कर्तव्य पूरा करता है। आर्यजन वृथा ही जीवों से शत्रुता नहीं रखते। वे कभी कसाईघर नहीं चलाते और न ही दीन पशुओं के शत्रु होते हैं। प्रचेताओं ने अनेक वर्षों तक जल के भीतर रहकर भी तपस्या की थी। तपस्या को स्वीकार करना उन्नत सभ्यता का न्याय संगत कर्तव्य है।

निरन्धसाम् शब्द का अर्थ है, “निराहार।” वृथा ही अधिक भोजन करना आर्य का कार्य नहीं है, अपितु जहाँ तक हो सके सीमित भोजन करना चाहिए। जब आर्य लोग भोजन करते हैं, तो वे स्वीकृत भोज्य पदार्थ ही खाते हैं। इसके सम्बन्ध में भगवान् ने *भगवद्गीता* (९.२६) में कहा है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।

तदहं भक्त्युपहतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥

“यदि कोई मुझे प्रेम तथा भक्तिपूर्वक एक पत्ता, फूल, फल अथवा जल अर्पित करता है, तो मैं उसे स्वीकार करता हूँ।” इस प्रकार उन्नत आर्यों के लिए अनेक प्रतिबन्ध होते हैं। यद्यपि भगवान् इच्छानुसार सब कुछ खा सकते हैं, किन्तु वे अपने को फल, फूल, पत्ता, दूध इत्यादि तक सीमित रखते हैं। इस प्रकार इस श्लोक में आर्यों के कार्यों का वर्णन हुआ है।

मनुः स्वयम्भूर्भगवान्भवश्च

येऽन्ये तपोज्ञानविशुद्धसत्त्वाः ।

अदृष्टपारा अपि यन्महिम्नः

स्तुवन्त्यथो त्वात्मसमं गृणीमः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

मनुः—स्वायंभुव मनु; स्वयम्भूः—ब्रह्मा; भगवान्—अत्यन्त शक्तिमान; भवः—शिवजी; च—भी; ये—जो; अन्ये—अन्य; तपः—तपस्या; ज्ञान—ज्ञान द्वारा; विशुद्ध—शुद्ध; सत्त्वाः—जिसका अस्तित्व; अदृष्ट-पाराः—जो अन्त को नहीं देख सकते; अपि—यद्यपि; यत्—तुम्हारी; महिम्नः—महिमा की; स्तुवन्ति—प्रार्थना करते हैं; अथो—अतः; त्वा—तुमको; आत्म-समम्—यथाशक्ति; गृणीमः—हमने प्रार्थना की।

हे भगवन्, तप तथा ज्ञान के कारण सिद्धिप्राप्त बड़े-बड़े योगी तथा शुद्ध सत्त्व में स्थित लोगों के साथ-साथ मनु, ब्रह्मा तथा शिव जैसे महापुरुष भी आपकी महिमा तथा शक्तियों को पूरी तरह नहीं समझ पाते। फिर भी वे यथाशक्ति आपकी प्रार्थना करते हैं। उसी प्रकार हम इन महापुरुषों से काफी क्षुद्र होते हुए भी अपने सामर्थ्य के अनुसार प्रार्थना कर रहे हैं।

तात्पर्य : ब्रह्मा, शिव, मनु (मानव जाति का जनक), परम साधु पुरुष तथा बड़े-बड़े ऋषि

जिन्होंने अपनी तपस्या तथा भक्ति के बल पर उच्चस्थान प्राप्त किया है, भगवान् की तुलना में ज्ञान में अधूरे हैं। इस संसार के सभी प्राणियों के साथ ऐसा ही है। कोई मनुष्य किसी भी वस्तु में, विशेष रूप से ज्ञान में, परमेश्वर के समकक्ष नहीं हो सकता। फलतः भगवान् के प्रति की गई किसी की भी प्रार्थना पूर्ण नहीं होती। परमेश्वर की पूर्ण महिमा को माप पाना असम्भव है, क्योंकि वह अनन्त है। भगवान् भी अपने अनन्त अर्थात् शेष अवतार के रूप में अपनी महिमा का वर्णन कर सकने में असमर्थ हैं। यद्यपि अनन्त के हजारों मुख हैं और वे अनेक वर्षों से भगवान् की महिमा का गान करते रहे हैं, किन्तु वे भी भगवान् की महिमा का अन्त नहीं पा सके। इस प्रकार परमेश्वर की शक्तियों एवं महिमा का अनुमान लगा पाना असम्भव है।

तो भी प्रत्येक व्यक्ति भक्तिपूर्वक भगवान् की प्रार्थना कर सकता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने एक सापेक्ष पद में स्थित है; इस कारण भगवान् की महिमा का बखान करने में कोई भी सक्षम नहीं है। ब्रह्मा तथा शिव से लेकर हममें से प्रत्येक व्यक्ति परमेश्वर का दास है। हम सब अपने-अपने कर्मों के अनुसार सापेक्ष पदों पर स्थित हैं, फिर भी भगवान् की महिमा को पहचानते हुए हम अपने-अपने हृदय तथा आत्मा से प्रार्थना कर सकते हैं। यही हमारी सिद्धि है। घोर अंधकार में रहकर भी मनुष्य को यथाशक्ति भगवान् की प्रार्थना करने की अनुमति है। अतः *भगवद्गीता* (९.३२) में भगवान् कहते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

“हे पार्थ! मेरी शरण आकर तो निम्नतर योनि वाले-स्त्री, वैश्य तथा शूद्र भी परम गति को प्राप्त हो सकते हैं।”

यदि कोई निष्ठापूर्वक भगवान् के चरणकमलों को धीरता के साथ स्वीकार करता है, तो वह भगवान् तथा भगवान् के दास की कृपा से शुद्ध हो जाता है। *भागवत* (२.४.१८) में शुकदेव गोस्वामी ने इसकी पुष्टि की है—*येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ।* जो भगवान् के दास अर्थात् गुरु के प्रयास से भगवान् के चरणकमलों का आश्रय लेता है, वह भले ही निम्नकुल में क्यों न जन्मा हो तुरन्त शुद्ध हो जाता है। वह अपने घर, भगवद्धाम वापस जाने के योग्य हो जाता है।

नमः समाय शुद्धाय पुरुषाय पराय च ।

वासुदेवाय सत्त्वाय तुभ्यं भगवते नमः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार; समाय—सर्वसम को; शुद्धाय—जो कभी पाप कर्मों द्वारा दूषित नहीं होता; पुरुषाय—परम पुरुष को; पराय—दिव्य; च—भी; वासुदेवाय—सर्वत्र रहने वाले को; सत्त्वाय—उसे जो दिव्य पद को प्राप्त है; तुभ्यम्—तुमको; भगवते—भगवान् को; नमः—नमस्कार।

हे भगवन्, आपके न तो शत्रु हैं न मित्र। अतः आप सबों के लिए समान हैं। आप पापकर्मों के द्वारा कलुषित नहीं होते और आपका दिव्य रूप सदैव भौतिक सृष्टि से परे है। आप पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं, क्योंकि आप सर्वव्यापी हैं, अतः आप वासुदेव कहलाते हैं। हम आपको सादर नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् वासुदेव कहलाते हैं क्योंकि वे सर्वत्र निवास करते हैं। *वस* शब्द का अर्थ है “बसना या निवास करना।” जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है—*एकोऽप्यसौ रचयितुं जगदण्डकोटिम्*—भगवान् अपने स्वांशों द्वारा प्रत्येक ब्रह्माण्ड में प्रवेश करके भौतिक सृष्टि की रचना करते हैं। वे प्रत्येक जीव के हृदय में तथा प्रत्येक परमाणु में भी प्रवेश करते हैं (*परमाणुचयान्तरस्थ*)। सर्वत्र रहने के कारण भगवान् वासुदेव कहलाते हैं। इस संसार में सर्वत्र रहते हुए भी वे प्रकृति के गुणों से कलुषित नहीं होते। अतः *ईशोपनिषद्* में भगवान् को *अपापविद्धम्* कहा गया है। वे प्रकृति के गुणों से कभी भी प्रभावित नहीं होते। जब भगवान् इस लोक में अवतरित होते हैं, तो वे अनेक प्रकार के कार्य करते हैं। वे असुरों को मारते हैं और ऐसे कार्य करते हैं जिनकी अनुमति वेद नहीं देते अर्थात् जिन्हें पापपूर्ण माना जाता है। यद्यपि वे इस प्रकार के कार्य करते हैं, किन्तु अपने कर्म से वे दूषित नहीं होते। इसीलिए यहाँ पर उन्हें शुद्ध कहा गया है। भगवान् सम भी हैं। इस सम्बन्ध में *भगवद्गीता* (१.२९) का कथन है—*समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः*—भगवान् का न कोई मित्र है, न कोई शत्रु। वे सबों के लिए समान (सम) हैं।

सत्त्वाय शब्द सूचित करता है कि भगवान् का स्वरूप भौतिक नहीं है। यह *सच्चिदानन्दविग्रहः* है—*ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः*। उनका शरीर हमारे भौतिक शरीर से भिन्न होता है। कोई यह न सोचे कि भगवान् के भी हमारे जैसा भौतिक शरीर है।

मैत्रेय उवाच

इति प्रचेतोभिरभिष्टुतो हरिः

प्रीतस्तथेत्याह शरण्यवत्सलः ।

अनिच्छतां यानमतृप्तचक्षुषां

ययौ स्वधामानपवर्गवीर्यः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; इति—इस प्रकार; प्रचेतोभिः—प्रचेताओं द्वारा; अभिष्टुतः—प्रशंसित, स्तुति करने पर; हरिः—भगवान्; प्रीतः—प्रसन्न होकर; तथा—उसी तरह; इति—इस प्रकार; आह—कहा; शरण्य—शरणागतों के लिए; वत्सलः—स्नेहभाजन; अनिच्छताम्—इच्छा न होते हुए; यानम्—विदा; अतृप्त—तृप्त नहीं हुए; चक्षुषाम्—नेत्र; ययौ—चला गया; स्वधाम—अपने धाम को; अनपवर्ग-वीर्यः—जिनका वीर्य कभी पराजित नहीं होता, अप्रतिहत ।

महर्षि मैत्रेय ने आगे कहा : हे विदुर, इस प्रकार प्रचेताओं द्वारा सम्बोधित तथा पूजित होकर शरणागतों के रक्षक भगवान् ने कहा, “तुमने जो कुछ माँगा है, वह पूरा हो।” तत्पश्चात् कभी न पराजित होनेवाले भगवान् ने विदा ली। प्रचेतागण उनसे विलग नहीं होना चाह रहे थे, क्योंकि उन्होंने जी-भर कर उन्हें नहीं देखा था।

तात्पर्य : इस श्लोक में अनपवर्गवीर्य शब्द महत्त्वपूर्ण है। अन का अर्थ है बिना, पवर्ग का अर्थ भौतिकवादी जीवन शैली तथा वीर्य का अर्थ शक्ति है। भगवान् की शक्ति में छह मूल ऐश्वर्य हैं जिनमें एक विरक्ति है। यद्यपि प्रचेता भगवान् को जी-भर कर देखना चाहते थे, किन्तु भगवान् चले गये। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार यह अन्य असंख्य भक्तों के प्रति उनकी दया का प्रदर्शन है। यद्यपि प्रचेता उनके प्रति आकृष्ट हो रहे थे, किन्तु वे चले गये। यह उनकी विरक्ति का सूचक है। ऐसी विरक्ति भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने भी दिखलाई थी जब वे संन्यास लेकर अद्वैत प्रभु के साथ रह रहे थे। वहाँ के सभी भक्त चाह रहे थे कि वे कुछ दिन और रुकें, किन्तु महाप्रभु बिना हिचक के वहाँ से चले गये। निष्कर्ष यह निकला कि यद्यपि भगवान् अपने भक्तों के प्रति अपार दयाभाव रखते हैं, किन्तु वे किसी से लिप्त नहीं होते। वे सृष्टि-भर के अपने समस्त भक्तों पर समान रूप से दयालु हैं।

अथ निर्याय सलिलात्प्रचेतस उदन्वतः ।

वीक्ष्याकुप्यद्भुमैश्छन्नां गां गां रोद्धुमिवोच्छ्रितैः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; निर्याय—बाहर निकल कर; सलिलात्—जल से; प्रचेतसः—सभी प्रचेता; उदन्वतः—समुद्र के; वीक्ष्य—देखकर; अकुप्यन्—अत्यन्त क्रुद्ध हुए; द्रुमैः—वृक्षों से; छन्नाम्—ढकी हुई; गाम्—पृथ्वी को; गाम्—स्वर्ग को; रोद्धुम्—रोकने के लिए; इव—मानो; उच्छ्रितैः—अत्यन्त ऊँचे-ऊँचे।

तत्पश्चात् सभी प्रचेता समुद्र के जल से बाहर निकल आये। तब उन्होंने देखा कि पृथ्वी

(स्थल) पर सारे वृक्ष बढ़कर काफी ऊँचे हो चुके हैं मानो वे स्वर्ग के मार्ग को रोकना चाहते हों। इन वृक्षों ने सारे पृथ्वीतल को आच्छादित कर रखा था। उस समय प्रचेता अत्यन्त कुपित हुए।

तात्पर्य : राजा प्राचीनबर्हिषत् अपने पुत्रों (प्रचेताओं) द्वारा तपस्या पूरी करके लौटने के पूर्व ही अपना राज-पाट छोड़ कर चले गये थे। भगवान् ने इन पुत्रों अर्थात् प्रचेताओं को जल से बाहर निकल कर अपने पिता के राज्य में जाकर प्रजा की रक्षा करने का आदेश दिया। किन्तु जब वे जल से निकल कर बाहर आये तो उन्होंने देखा कि राजा की अनुपस्थिति में सब कुछ उपेक्षित हो गया था। सर्वप्रथम उन्होंने देखा कि कृषि-कार्य बन्द हो जाने से खाद्यान्नों का उत्पादन नहीं हो रहा था। वस्तुतः सारा पृथ्वीतल ऊँचे-ऊँचे वृक्षों से लगभग ढका हुआ था। ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो ये वृक्ष स्वर्ग जाने वालों के रास्ते को रोक कर खड़े हों। जब प्रचेताओं ने पृथ्वी की सतह को इस प्रकार से ढका हुआ देखा तो वे अत्यन्त क्रुद्ध हुए। उनकी इच्छा थी कि फसलों के लिए सारी भूमि साफ कर ली जाय।

यह सत्य नहीं है कि जंगल तथा वृक्ष बादलों तथा वर्षा को आकर्षित करते हैं, क्योंकि समुद्र के ऊपर भी वर्षा होती है। मनुष्य पृथ्वीतल के जंगलों को साफ करके तथा भूमि को कृषि-योग्य बना कर कहीं भी रह सकते हैं। लोग गाँव रख सकते हैं और इस तरह सभी प्रकार की आर्थिक समस्याएँ सुलझाई जा सकती हैं। मनुष्य को अनाज उत्पन्न करने के लिए काम करना होगा और गायों की रक्षा करनी होगी। जंगलों की लकड़ी झोपड़ियाँ बनाने के काम में लाई जा सकती है। इस प्रकार मनुष्यों की आर्थिक समस्या सुलझाई जा सकती है। इस समय संसार-भर में अत्यन्त अधिक निर्जन भूमि है, जिसका यदि समुचित उपयोग किया जाय तो अन्न का अभाव न रहे। जहाँ तक वर्षा का प्रश्न है, यज्ञ करने से वर्षा होती है। भगवद्गीता (३.१४) में कहा गया है—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।

यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥

“सभी प्राणी अन्न पर निर्भर रहते हैं और अन्न वर्षा से उत्पन्न होता है। वर्षा की उत्पत्ति यज्ञ सम्पन्न करने से होती है और यज्ञ स्वधर्म से उत्पन्न है।” यज्ञ करने से मनुष्य को प्रचुर वर्षा तथा अन्न प्राप्त होगा।

ततोऽग्निमारुतौ राजन्नमुञ्चन्मुखतो रुषा ।
महीं निर्वीरुधं कर्तुं संवर्तक इवात्यये ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; अग्नि—आग; मारुतौ—तथा वायु; राजन्—हे राजन्; अमुञ्चन्—निकालते हुए; मुखतः—अपने मुखों से; रुषा—क्रोध से; महीम्—पृथ्वी को; निर्वीरुधम्—वृक्षरहित; कर्तुम्—करने के लिए; संवर्तकः—प्रलयाग्नि; इव—सदृश; अत्यये—प्रलय के समय।

हे राजन्, प्रलय के समय शिवजी क्रोध में आकर अपने मुख से अग्नि तथा वायु छोड़ते हैं। प्रचेताओं ने भी पृथ्वीतल को पूर्णतः वृक्षरहित करने के लिए अपने मुखों से अग्नि तथा वायु निकाली।

तात्पर्य : इस श्लोक में विदुर को राजन् कह कर सम्बोधित किया गया है। इस प्रसंग में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टीका है कि धीर कभी कुपित नहीं होता, क्योंकि वह सदा भक्ति में स्थित रहता है। चूँकि महान् भक्त अपनी इन्द्रियों को वश में रख सकते हैं, अतः भक्त को राजन् कहकर सम्बोधित किया जा सकता है। राजा प्रजा को वश में करके कई प्रकार से अपना शासन चलाता है, इसी प्रकार जो अपनी इन्द्रियों को वश में रख सके वह अपनी इन्द्रियों का राजा है। वह स्वामी या गोस्वामी है। स्वामियों तथा गोस्वामियों को कभी-कभी महाराज कह कर सम्बोधित किया जाता है।

भस्मसात्क्रियमाणांस्तान्द्रुमान्वीक्ष्य पितामहः ।
आगतः शमयामास पुत्रान्बर्हिष्मतो नयैः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

भस्मसात्—जलकर राख होना; क्रियमाणान्—किया जाता हुआ; तान्—उन सब; द्रुमान्—वृक्षों को; वीक्ष्य—देखकर; पितामहः—ब्रह्मा; आगतः—वहाँ आया; शमयाम् आस—शान्त किया; पुत्रान्—पुत्रों को; बर्हिष्मतः—राजा बर्हिष्मान् के; नयैः—तर्क द्वारा।

यह देखकर कि पृथ्वी के सारे वृक्ष जलकर राख हो रहे हैं, ब्रह्माजी तुरन्त राजा बर्हिष्मान् के पुत्रों के पास आये और उन्होंने तर्कपूर्ण शब्दों से उन्हें शान्त किया।

तात्पर्य : जब भी किसी लोक में कोई असामान्य घटना घटती है, तो सारे संसार के प्रभारी होने के कारण ब्रह्माजी तुरन्त स्थिति पर काबू पाने के लिए वहाँ पहुँच जाते हैं। ब्रह्माजी तब भी आये थे जब हिरण्यकशिपु ने अपनी कठिन तपस्या से सारे ब्रह्माण्ड को हिला दिया था। किसी भी संस्थान का जिम्मेदार व्यक्ति अपने संस्थान में शान्ति तथा समन्वय बनाये रखने के लिए सदैव सतर्क रहता है। इसी

प्रकार ब्रह्मा को इस ब्रह्माण्ड के भीतर शान्ति बनाये रखने की अनुमति दी जाती है। फलतः उन्होंने राजा बर्हिष्मान् के पुत्रों को युक्ति संगत तर्क से शान्त किया।

तत्रावशिष्टा ये वृक्षा भीता दुहितरं तदा ।

उज्जह्वस्ते प्रचेतोभ्य उपदिष्टाः स्वयम्भुवा ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; अवशिष्टाः—शेष, बचे हुए; ये—जो; वृक्षाः—वृक्ष; भीताः—भयभीत; दुहितरम्—अपनी कन्या को; तदा—उस समय; उज्जह्वः—ला कर दे दिया; ते—उन्होंने; प्रचेतोभ्यः—प्रचेताओं को; उपदिष्टाः—उपदेश पाकर; स्वयम्भुवा—ब्रह्मा द्वारा।

बचे हुए वृक्षों ने प्रचेताओं से डर कर ब्रह्मा की राय से अपनी कन्या को लाकर तुरन्त उन्हें दे दिया।

तात्पर्य : इस अध्याय के तेरहवें श्लोक में वृक्षों की कन्या का उल्लेख हुआ है। यह कन्या कण्डु तथा प्रम्लोचा से उत्पन्न हुई थी। प्रम्लोचा अप्सरा इस शिशु को जन्म देने के बाद तुरन्त स्वर्गलोक चली गई। शिशु को रोते देखकर चन्द्र लोक के राजा को उस पर दया आ गई और उसने उसके मुँह में अपनी अँगुली डालकर उसके प्राणों की रक्षा की। वृक्षों ने इस कन्या का पालन-पोषण किया और जब वह बड़ी हो गई तो ब्रह्मा के आदेश से उन्होंने उसे लाकर प्रचेताओं को पत्नी रूप में सौंप दिया। इस कन्या का नाम मारिषा था, जैसाकि अगले श्लोक में व्याख्या की जाएगी। वृक्षों के प्रमुख देव ने लाकर कन्या सौंपी। इस प्रसंग में श्रील जीव गोस्वामी का कथन है—*वृक्षाः तदधिष्ठातृदेवताः*—वृक्षों का अर्थ उन वृक्षों का अधिष्ठाता देव है। वैदिक साहित्य से ज्ञात होता है कि जल का एक अधिष्ठाता देव होता है, इसी प्रकार वृक्षों का भी एक अधिष्ठाता देव होता है। प्रचेतागण समस्त वृक्षों को भस्मसात् किये जा रहे थे, क्योंकि वे वृक्षों को अपना शत्रु मान रहे थे। प्रचेताओं को शान्त करने के लिए ब्रह्मा की राय से वृक्षों के प्रमुख देव ने पुत्री मारिषा को उन्हें सौंप दिया।

ते च ब्रह्मण आदेशान्मारिषामुपयेमिरे ।

यस्यां महदवज्ञानादजन्यजनयोनिजः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

ते—वे समस्त प्रचेता; च—भी; ब्रह्मणः—ब्रह्मा के; आदेशात्—आदेश से; मारिषाम्—मारिषा के साथ; उपयेमिरे—ब्याह कर लिया; यस्याम्—जिसमें; महत्—महापुरुष को; अवज्ञानात्—अवज्ञा के कारण; अजनि—जन्म लिया; अजन-योनि-जः—ब्रह्मा का पुत्र, दक्ष।

ब्रह्मा के आदेश से समस्त प्रचेताओं ने उस कन्या को अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार कर

लिया। इस कन्या के गर्भ से ब्रह्मा के पुत्र दक्ष ने जन्म लिया। दक्ष को मारिष के गर्भ से इसलिए जन्म लेना पड़ा, क्योंकि उसने महादेवजी (शिवजी) की आज्ञा का उल्लंघन तथा अनादर किया था। फलतः उसे दो बार शरीर त्याग करना पड़ा।

तात्पर्य : इस प्रसंग में *महद्-अवज्ञानात्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। राजा दक्ष ब्रह्मा के पुत्र थे, अतः पूर्वजन्म में वे ब्राह्मण थे, किन्तु महादेवजी का अपमान या अनादर करके अब्राह्मण की तरह आचरण करने के कारण उन्हें क्षत्रिय के वीर्य से जन्म लेना पड़ा, अर्थात् वे प्रचेताओं के पुत्र बने। यही नहीं, शिव का अनादर करने के कारण उन्हें स्त्री के गर्भ में जन्म धारण करने का कष्ट सहना पड़ा। एक बार वे शिवजी के अनुचर वीरभद्र द्वारा दक्ष की यज्ञशाला में मारे गये। इतना काफी न था, अतः उन्हें फिर से मारिषा के गर्भ से जन्म लेना पड़ा। दक्षयज्ञ तथा विध्वंसक घटनाओं के अन्त में दक्ष ने शिवजी की प्रार्थना की। यद्यपि उन्हें शरीर त्याग कर क्षत्रिय के वीर्य से गर्भित स्त्री के गर्भ से जन्म लेना पड़ा, किन्तु भगवान् शिवजी की कृपा से उन्हें सारा ऐश्वर्य प्राप्त हुआ। ये भौतिक प्रकृति के सूक्ष्म नियम हैं। दुर्भाग्यवश इस आधुनिक युग के लोग नहीं जानते कि ये नियम किस प्रकार चलते हैं। आत्मा की अमरता तथा इसके देहान्तर का कोई ज्ञान न होने से आजकल सारी जनता घोर अज्ञान में है। इसीलिए *भागवत* (१.१.१०) में कहा गया है—*मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्याह्युपद्रुताः*। इस कलियुग के सारे लोग दुष्ट, आलसी, अभागे तथा भौतिक परिस्थितियों से क्षुब्ध रहते हैं।

चाक्षुषे त्वन्तरे प्राप्ते प्राक्सर्गे कालविद्रुते ।

यः ससर्ज प्रजा इष्टाः स दक्षो दैवचोदितः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

चाक्षुषे—चाक्षुष नामक; तु—लेकिन; अन्तरे—मन्वन्तर; प्राप्ते—आने पर; प्राक्—पूर्व; सर्गे—सृष्टि; काल-विद्रुते—कालक्रम से विनष्ट; यः—जो; ससर्ज—उत्पन्न किया; प्रजाः—जीव; इष्टाः—इच्छित; सः—वह; दक्षः—दक्ष; दैव—भगवान् द्वारा; चोदितः—प्रेरणा पाकर।

उसका पूर्व शरीर विनष्ट हो चुका था, किन्तु उसी दक्ष ने परमेश्वर की प्रेरणा से चाक्षुष मन्वन्तर में समस्त मनोवांछित जीवों की सृष्टि की।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (८.१७) में कहा गया है—

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्षद्ब्रह्मणो विदुः ।

रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥

“मानव गणना के अनुसार ब्रह्मा के एक दिन की अवधि एक हजार युग है और इतनी ही बड़ी रात होती है।” ब्रह्मा के एक दिन में चारों युगों—सत्य, त्रेता, द्वापर तथा कलि—के एक हजार चक्कर लगते हैं। उस एक दिन में चौदह मन्वन्तर होते हैं और इन मन्वन्तरों में यह चाक्षुष मन्वन्तर छठा है। ब्रह्मा के एक दिन के विभिन्न मनु इस प्रकार हैं—स्वायंभुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, दक्ष-सावर्णि, ब्रह्म-सावर्णि, धर्म-सावर्णि, रुद्र-सावर्णि, देव-सावर्णि तथा इन्द्र-सावर्णि।

इस प्रकार ब्रह्मा के एक दिन में चौदह मनु होते हैं और एक वर्ष में ५,०४० मनु होते हैं। ब्रह्मा को एक सौ वर्ष जीवित रहना होता है, फलतः ब्रह्मा के जीवन में कुल मनुओं की संख्या ५,०४,००० हो जाती है। यह गणना एक ब्रह्माण्ड की है और ऐसे असंख्य ब्रह्माण्ड हैं। ये समस्त मनु महाविष्णु की श्वास क्रिया मात्र द्वारा आते-जाते रहते हैं। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है—

यस्यैकनिश्चसितकालमथावलम्ब्य

जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथाः ।

विष्णुर्महान् स इह यस्य कलाविशेषो

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

जगदण्डनाथ का अर्थ ब्रह्मा है। ऐसे असंख्य *जगदण्डनाथ* हैं, अतः हम अनेक मनुओं की गणना कर सकते हैं। यह युग वैवस्वत मनु के नियंत्रण में है। प्रत्येक मनु ४३,२०,००० × ७१ वर्ष तक जीवित रहता है। वर्तमान मनु पहले ही ४३,२०,००० × २८ वर्ष पूरा कर चुका है। अन्त में इन सारे दीर्घ जीवनो का भौतिक प्रकृति के नियमों से विनाश होता है। दक्ष-यज्ञ का विवाद स्वायम्भुव मन्वन्तर काल में हुआ, फलस्वरूप शिवजी ने दक्ष को दण्डित किया, किन्तु शिवजी की स्तुति करके उसने पुनः अपना पूर्व ऐश्वर्य प्राप्त कर लिया। विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार दक्ष ने पाँचवें मन्वन्तर तक घोर तपस्या की। इस तरह चाक्षुष नामक छठे मन्वन्तर के प्रारम्भ में शिव के आशीर्वाद से दक्ष को पूर्व वैभव प्राप्त हो सका।

यो जायमानः सर्वेषां तेजस्तेजस्विनां रुचा ।

स्वयोपादत्त दाक्ष्याच्च कर्मणां दक्षमब्रुवन् ॥ ५० ॥

तं प्रजासर्गरक्षायामनादिरभिषिच्य च ।

युयोज युयुजेऽन्यांश्च स वै सर्वप्रजापतीन् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; जायमानः—अपने जन्म के तुरन्त बाद; सर्वेषाम्—सबों का; तेजः—कान्ति; तेजस्विनाम्—चमकीला; रुचा—तेज से; स्वया—उसका; उपादत्त—ढका; दाक्ष्यात्—दक्ष होने से; च—तथा; कर्मणाम्—सकाम कर्मों में; दक्षम्—दक्ष; अब्रुवन्—कहलाया; तम्—उसको; प्रजा—सभी जीव; सर्ग—उत्पन्न करते हुए; रक्षायाम्—पालन कार्य के लिए; अनादिः—प्रथम जन्मा, ब्रह्मा; अभिषिच्य—नियुक्त करके; च—भी; युयोज—लगाया; युयुजे—लगाया; अन्यान्—दूसरों को; च—तथा; सः—वह; वै—निश्चय ही; सर्व—सभी; प्रजा-पतीन्—जीवों के जनकों को।

जन्म लेने के बाद अपनी अद्वितीय शारीरिक कान्ति के कारण दक्ष ने अन्य सबों की शारीरिक कान्ति को ढाँप दिया। चूँकि वह सकाम कार्य करने में अत्यन्त पटु (दक्ष) था, इसलिए उसका नाम दक्ष पड़ा। इसलिए ब्रह्मा ने उसे जीवों को उत्पन्न करने तथा उनके पालन के कार्य में लगा दिया। समय आने पर दक्ष ने अन्य प्रजापतियों को भी उत्पत्ति तथा पालन के कार्य में नियुक्त कर दिया।

तात्पर्य : दक्ष ब्रह्मा के ही समान शक्तिशाली बन गया। फलतः ब्रह्माजी ने उसे प्रजा की उत्पत्ति करने के लिए नियुक्त कर दिया। दक्ष अत्यन्त प्रभावशाली एवं ऐश्वर्यवान् था। दक्ष ने अपने काल में मरीचि आदि अन्य प्रजापतियों को नियुक्त किया। इस प्रकार ब्रह्माण्ड की जनसंख्या बढ़ी।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत “प्रचेताओं के कार्यकलाप” नामक तीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।